श्रीकृष्ण सन्देश

वर्ष ५, अंक ४

र्ष : ५ • अंक : ४



श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके मन्दिरमें भगवान्‌के बालविग्रहकी झाँकी, जो केलेके कलाकृतियोंसे सुसज्जित है। यह वही सिद्ध विग्रह है जिसने स्वर्गीय श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाको दर्शन दिया था और जिसे प्रतिष्ठित करते समय श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार, (सम्पादक-कल्याण) भावविह्वल हो गये थे

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक



प्रवर्तक
ब्रह्मलीन श्रीजुगलकिशोर बिरला

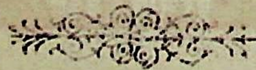
वर्ष : ५ अङ्क : ४
नवम्बर, १९६९

वार्षिक शुल्क : ७.००
आजीवन शुल्क : १५१.००

प्रकाशक :
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
दूरभाष : ३३८

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृ० सं०
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : प्रेरणाप्रद	....	३
गुह्यतम ज्ञानामृत	....	७
परमतत्त्व	श्री अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय	९
जगपति विहरत........	श्री शिवकुमार मिश्र 'मयूर'	१३
भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य और उसका कारण	श्री मिट्ठीलाल शर्मा	१४
विषम भवमार हरो	'राम'	१७
अवतारका प्रयोजन	आचार्य श्री रघुनाथ पाण्डेय	१८
उत्कंठा	श्री बाबूलाल गोस्वामी	२२
गोवर्धन-पूजा	'श्री शङ्खपाणि'	२३
शरणागतिका वैशिष्ठ्य	श्री रामनारायण त्रिपाठी	२७
पंकज-दूत	श्री यमुनाप्रसाद चतुर्वेदी 'प्रीतम'	३१
ऐसा था ब्रजके कन्हैयाका बालपन	श्री जय किशनप्रसाद खण्डेलवाल	३३
हृदयवाद और बुद्धिवाद	श्री बाबूलाल 'श्रीमयंक'	३५
कृष्णं वन्दे जगद्गुरुं	श्री जयगोपाल मिश्र	३७
कृष्ण-साधिका मीरा	श्री हरिशंकर पाण्डेय	३९
अवतारवाद और श्रीकृष्ण	श्री राम मेहरोत्रा	४१
हमारे साधु क्या करें ?	श्री हरिबक्ष जोशी	४६
पांचरात्राधिकरण	श्री ब्रजवल्लभ द्विवेदी	५१
गीतोक्त कर्मयोगके आश्रयसे भगवत्-प्राप्ति	श्री रघुनाथप्रसाद चतुर्वेदी	५५
श्रीरामका ग्रामीण जन-स्नेह	श्री राधेश्याम द्विवेदी	५८
कार्तिकमासके व्रत-त्यौहार	....	६०



श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : प्रेरणाप्रद

प्रत्यक्षदर्शियोंके उद्गार

(नवम्बर १९६९)



आज श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ, स्थान रमणीक और शान्तिप्रद है। इसका जीर्णोद्धार एक बहुत ही शुभ विचार है।

महावीरप्रसाद त्रिपाठी
डी० आई० जी० पुलिस, राजस्थान, जयपुर।

चिराद् विस्मृतप्राय जगद्गुरोः श्रीकृष्णचन्द्रदेवस्य जन्मभूमिवैभवं पुनरपि महामनःसामुदारकीर्तीनां भारतीयसंस्कृतिरक्षणप्रवणानां हिन्दूपदाभिधेयानामार्याणामुत्साहेन परिचीयति परिचेष्यते चेति महत्प्रमोदस्थानम्। नित्यवैभवविभुः श्रीनन्दनन्दनो योजनामिमां प्रभुर्याभिनन्दमेत्सनां चेतांसीति कामयते।

श्रीगोपालचन्द्र मिश्रः
वेद-विभागाध्यक्षः वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य।

आज भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमिका दर्शन कर बड़ी प्रसन्नता एवं अपनेको कृतकृत्य अनुभव किया। इस स्थान पर विशाल मंदिरका निर्माणकार्य देखकर तो और भी हर्ष हुआ। श्रीकृष्णके जन्मस्थानका दर्शनकर अनेकानेक पीढ़ियों तक मनुष्य उनके उपदेशोंको ग्रहण करता रहेगा। यही मेरी भावना है कि मैं निर्माणकार्यके प्रबन्धकोंको भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

चाँदमल जूलिया
राज्यमंत्री, सिंचाई (मध्य-प्रदेश)

आज मुझे योगिराज श्रीकृष्णकी जन्मभूमि मथुराकी पुण्य तीर्थयात्राका सुअवसर प्राप्त हुआ। दर्शन कर मुझे आन्तरिक शान्ति मिली, साथ ही अपने जीवन-दर्शन एवं संस्कृतिके अमर भावके प्रति मेरी अन्तर्प्रेरणा भी स्फूर्त हुई। मैं इस संस्कृति एवं राष्ट्र-उद्धारके इस महान् सांस्कृतिक अभियानमें जुटे असंख्य विद्वान्, श्रीमान्, शिल्पी, श्रमिक, सबका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। आनेवाली पीढ़ी इनके इस महान् प्रयासकी सदैव ऋणी रहेगी।

यज्ञदत्त शर्मा
संसद सदस्य, अमृतसर।

आज दिनांक १७-१०-६९ को श्रीकृष्ण-जन्मभूमिका निरीक्षण तथा दर्शन किया। भगवान्की जन्मभूमिका दर्शन कर एवं भागवत-भवन और अतिथिगृहका निर्माणकार्य देखकर हृदयमें अत्यन्त हर्षातिरेक हुआ। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ कि इस स्थानकी महत्ता उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हो।

जे० एन० ब्रह्मचारी (योगिराज)
गीता भवन नं० ३, कमरा नं० ३६४ पो० स्वर्गाश्रम वाया ऋषिकेश (उ० प्र०)

Much appreciate the opportunity of seeing so important place in the history and spicitual life of this great country.

M. Grant, Bedford, U. K.

We are very impressed with what we have seen of Indian culture during our trip over this large country and espically in contacts with friendly people.

Tila and Dr. A. Sokolic.
Zemun, Yugoslavia.

It was a great pleasure to be able tovisit this sacred place where with great traditional to lerance we are restoring the sacred Birth Place of Bhagwan Krishna without disturbing the Mosque which came by Violence. Let this seive inspiration to all right minded persons.

R. T. Leuva
Speaker, Gujrat Ligislative Assembly, Ahmedabad.

I have very recently visited all the temples of Ram Sita Laxmi Narain and Radha Krishna of Badrinath, Joshi Math, Kashmir, Simla. Hardwar and Rishikesh but not a single place. I could find such a sweet face of Lord Krishna. I feel to sit and look to the idol for hours. I also feel this is my God and I should take this with me.

B. Basu

Administrative Officer I. F. D., Reserve Bak of India, Bombay.

I have had the privilege of association with the sacred place since 1966. I feel pride in having witnessed the digging of the underground room which ultimately has come to be recognised as the jail room purified by the brith of Lord Krishna the Supreme soul which has been guiding the spiritual destings of crors of human beings eversince this Mundane world first saw the divine light in those dark days of history when King Kansa ruled over this land and forces of evil prevailed all over.

I have visited this place after a period of about 3 years. It has given me immense pleasure to see the development made on this land by the Krishna Janma Bhumi Trust during this short period. The development is spectacular and the management deserves all the credit for this noble work done. I am also glad to note that a little service done by me has helped in collection of funds for this sacred work. The mangement has made ambitious plans and I wish them all luck for the successful axecution of these plans. May the Lord shower all his Blessings.

P. L. Madan (I. R. S.)

Incom Tax Officer, 3, Bara Khamba Lane, New Delhi

It is a highly religious place, which reminds one to submit to the will of God Almighty who is creator of this Uuiverse.

Y. N. Saxena (I. P. S.)

S. P. Mathura



श्रीहरिः

'श्रीकृष्ण-सन्देश'के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिकता, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोधको जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का शुभ उद्देश्य है।

● **नियम :** उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छाँट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें छापने, न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख बिना माँगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक ही पृष्ठपर बायें हासिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख सम्पादक—'श्रीकृष्ण-सन्देश' रू० नं० ६, कैलगढ़ कालोनी, जगतगंज-वाराणसीके पतेपर भेजें।

● 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एक बार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चंदेमें उनके जीवन भर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

ग्राहकोंको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनिआर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

● **विज्ञापन :** इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता :
व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

वर्ष : ५] मथुरा, नवम्बर १९६९ [अङ्क : ४

गुह्यतम ज्ञानामृत

तुम प्रतिदिन देखते हो, प्राचीके महान् क्षितिजसे तेजका एक पुंज प्रकट होता है; उसके उदित होते ही अभेद्य अन्धकारराशि जाने कहाँ विलीन हो जाती है और संपूर्ण विश्व नव्य-भव्य प्रभासे प्रकाशित हो उठता है। समस्त संसारको प्रकाश प्रदान करनेवाला वह सौर तेज क्या सूर्यमण्डलका है? नहीं, मेरा है। मैं ही वह सविता हूँ, जिसका वरेण्य तेज सबको प्रेरणा प्रदान करता है। बल्ब में जो तेज दृष्टिगोचर होता है, वह बल्बका नहीं, विद्युत्का है। उसी प्रकार आदित्यमण्डलसे प्रस्फुटित होकर सब ओर प्रसरणशील वह महान् तेज मेरा, केवल मेरा है। किसी अन्यका नहीं है। आवश्यक उष्णता, प्रकाश और नव जागरण देकर मैं ही जागतिक जीवोंके जीवनका उद्भावन और संरक्षण करता हूँ।

चाँदीके समान चमकीले चन्द्रमण्डलसे जो अमृतवर्षिणी रम्यरश्मियाँ झरती हैं, वे क्या उस मण्डलकी सम्पत्ति हैं? कदापि नहीं। वहाँ जानेपर वे तुझे नहीं मिलेंगी, नहीं दिखायी देंगी। तुम उन रश्मियोंको या शीतरश्मिमण्डलके शीतल आलोकको मेरा वैभव समझो। मैं ही हिमांशुमण्डलको महिमान्वित करते हुए उस पीयूषवाही आलोकको सम्पूर्ण लोकमें प्रसारित करता हूँ।

अग्निके जिस तेजसे घर-घरमें घी के चिराग जलते हैं; जिसकी प्रज्वलित अर्चिमें आहुतियाँ अर्पित होती और जिसकी आँचमें रसवती रसोई तैयार की जाती है; वह अग्नि-मण्डलीय तेज भी मेरा ही है। मेरा तेज पाकर ही अग्नि अग्नि है, अन्यथा बुझी हुई राखका ढेर है। और यह धरित्री, जिसपर चराचर जगत्का भार है, स्वयं कोई शक्ति नहीं रखती। मैं ही इसे शेष रूपसे सिरपर रखता हूँ। जब यह रसातलमें डूबी थी, तब बराहावतार धारण करके मैंने ही इसे ऊपर उठाया था और सदा सर्वदा मैं ही इसके भीतर प्रविष्ट हो अपने ओजबलसे सम्पूर्ण भूतोंको धारण करता हूँ। मैं ही रसात्मक सोम बनकर सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता हूँ। मेरे ही अमृतमय सोमरससे सिक्त होकर ओषधियाँ प्राणियोंमें प्राण संचार करती हैं। मैं ही वह वैश्वानर अग्नि हूँ, जो प्राणिमात्रके कुक्षि कुहरमें समिद्ध रहकर उनके द्वारा खाये गये चतुर्विध अन्नका पाचन करता है। समस्त प्राणियों के भीतर अन्तर्यामी रूपसे स्थित चेतन मैं ही हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशयादि निवारण) होते हैं। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा वेदनीय तत्त्व भी मैं ही हूँ। मैं ही वेदान्तका कर्ता तथा वेदोंका मर्मज्ञ हूँ।

इस जगत्में दो प्रकारके पुरुष हैं, एक क्षर और दूसरा अक्षर। समस्त भूत क्षरणशील (नाशवान्) हैं, इसलिए 'क्षर' कहे गये हैं। इन्हींको अपरा प्रकृति, जड़ वर्ग तथा क्षेत्र भी कहते हैं। इससे भिन्न कूटस्थ चेतन—जीवात्मा है, वह क्षरण रहित (अविनाशी) होनेसे अक्षर कहलाता है; इसीको चेतन, परा प्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं।

इन दोनों प्रकारके पुरुषोंसे भिन्न उत्तम पुरुष है, जो तीनो लोकोंमें व्याप्त रहकर सबका धारण-पोषण करता है। उसीका नाम परमात्मा, परमेश्वर आदि है। वह मैं ही हूँ। मैं क्षरसे अतीत हूँ—नाशवान् जड़ वर्गसे परे हूँ और अक्षर जीवात्मासे भी उत्तम हूँ; क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ है, मैं सर्वज्ञ, वह अल्पशक्तिमान् है और मैं सर्वशक्तिमान्। इस प्रकार इन दोनोंसे उत्तम होनेके कारण मैं लोक और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूँ। जो मनुष्य इस प्रकार क्षर, अक्षर तथा इन दोनोंसे विशिष्ट मुझ पुरुषोत्तमको जानता है, वह सर्वज्ञ है। ऐसा सर्वज्ञ पुरुष ही सर्वतोभावेन मेरा भजन करता है। यह मेरा गुह्यतम शास्त्रसिद्धान्त है। इस गुह्यतम ज्ञानको समझ लेनेवाला बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है, उसके लिए फिर कुछ करना, धरना या जानना शेष नहीं रह जाता है।

●

वेदादिशास्त्रोंकी दृष्टिसे ब्रह्मके स्वरूपका विवेचन

परमतत्त्व

ब्रह्मलीन आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय



ऋग्वेदका नासदीय सूक्त समग्र विश्वके मूलभूत एकमात्र अद्वितीय परमतत्त्वका एक आभास हमारे चित्तके सम्मुख उपस्थित करनेके उद्देश्यसे प्रथमतः हमारे चित्तक्षेत्रमेंसे सब प्रकारके द्वन्द्व, सब प्रकारके भेद, सब प्रकारकी विषयभावना विलुप्त करनेका उपदेश प्रदान करता है। तदनुसार चित्तको समग्र द्वैतसृष्टिके ऊर्ध्व एक ऐसी भूमिकापर उन्नीत करना होगा, जहाँ असत् भी नहीं, सत् भी नहीं, सत् और असत्की—हाँ और नाकी जो मिलनभूमि है। वहाँ पृथ्वी नहीं, आकाश नहीं, ऊपर-नीचे या बीचमें भी कुछ नहीं, देश-कालके ऊर्ध्व उस सुमहान् ऐक्यभूमिमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश अथवा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध या श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिकाकी कोई अभिव्यक्ति नहीं, वहाँ मंगल और अमंगल सुन्दर और कुत्सित, साध्य और सिद्धमें कोई भेद नहीं; वहाँ कारणसे कार्यका कोई उद्भव नहीं, स्थूल, सूक्ष्म और कारणमें भी कोई विभेद नहीं, वहाँ विषय और विषयी, ज्ञेय और ज्ञाता, कार्य और कर्ता, भोग्य और भोक्ता, शक्ति और शक्तिमान्‌का कोई पार्थक्य नहीं; सुतरां हम ज्ञान, क्रिया, आनन्द, बल एवं ऐश्वर्य प्रभृति कहनेसे जिन्हें जानते हैं, वे सभी कुछ चित्तकी उस आत्यन्तिक अभेद भूमिमें प्रकाशित नहीं होते। चित्त तब एकाकार, निश्चल, निर्विकार, प्रशान्त एवं निरंजन हो जाता है। फिर भी वह अनुभवविहीन, आनन्दरहित शक्तिपरिशून्य जड-अवस्था नहीं है।

ध्यानमें, और तो क्या कल्पनामें भी यदि चित्तको इस भूमिकापर उन्नीत किया जाय, तब जो विद्यमान रहता है, उसको ऋषि कहते हैं, "आनीदवातं स्वधया तदेकम्"—स्वकीया स्वधाके साथ अभिन्नभावसे सम्पूर्ण रूपसे अविक्षुब्ध, निश्चल, निष्पन्द अवस्थामें तब वही 'एक' ही आत्मस्थ होकर विराजमान रहता है। ऋषिको "एक" के अतिरिक्त उस परमतत्त्वको और कोई नाम देना संगत प्रतीत नहीं हुआ; क्योंकि प्रत्येक नाम ही किसी गुण, शक्ति या विशिष्टताका ज्ञापक होता है, परन्तु यह अद्वितीय, सर्वभेदातीत, "एक" गुणविभाग, शक्ति-विकास और विशिष्टप्रत्ययके ऊर्ध्व है। इस "एक" के स्वरूपमें गुण और गुणका भेद नहीं,

शक्ति-शक्तिमान् और कर्ता-कार्यका भेद नहीं, वैशिष्टय और सामान्यका भी भेद नहीं; सुतरां उसका कोई विशिष्ट नाम भी नहीं है। सभी प्रकारके नाम और रूपका उसीमें पर्यवसान हो जाता है। वह जिसको अवलम्बन करके विद्यमान रहता है, उसकी सत्ताके अतिरिक्त जिसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं एवं जिसकी सत्ताको छोड़कर उसका कोई ज्ञान, क्रिया और भोग सम्भव नहीं, उसकी वही स्वाभिन्ना, स्वाधीना, स्वाश्रया, स्वसम्भोग्या प्रकृति या शक्ति ही "स्वधा" के नामसे उल्लिखित है। वही स्वधा जब उसके साथ सम्यक् रूपेण एकीभूत रहती है, उस स्वधाका जब किसी प्रकारका विलास या अभिव्यक्ति नहीं होती, तब उसका भी न तो कोई प्रकाश होता है, न कोई ऐश्वर्य, न कोई आनन्दसम्भोग ही रहता है—"तमस्तदासीत् तमसा गूढ़मग्रे।" तब उसको प्रकाशस्वरूप माननेसे भी चलता है, तमःस्वरूप माननेसे भी चलता है, चित्स्वरूप माननेसे भी चलता है, जड़स्वरूप माननेसे भी चलता है, आनन्दस्वरूप माननेसे भी चलता है, क्योंकि प्रकाश और तमस्, चित्त और जड, आनन्द और निरानन्दमें उस समय भेद नहीं रह जाता, सभी तब एकीभूत हो जाते हैं। उसकी उसी स्वधाके; उसी स्वाभिन्ना, स्वाधीना, स्वाश्रया, स्वसम्भोग्या प्रकृतिके—उसी प्रकाशाप्रकाशमयी विचित्र-विलासमयी अशेषभेदगर्भिणी शक्तिके स्वकीय भेदभावकी अभिव्यक्ति अनन्तवैचित्र्यप्रसवके भीतर ही उस परम "एक"के ऐश्वर्यके प्रकाश, आनन्दके विलास, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताकी अनुभूति होती है।

सुतरां स्वधाको आलिङ्गन करके वह परम तत्त्व नित्य एक भी है, दो भी हैं, उसके भीतर नित्य ऐक्य भी है, नित्य द्वैत भी है, क्योंकि उसकी स्वधा उसके साथ चिरकालसे ही अभिन्न भी है, भिन्न भी है; वैचित्र्यप्रसवकारिणी विश्वजननीके रूपमें भिन्न होकर भी उसकी सत्ता उस परम तत्त्वकी सत्ताके साथ अभिन्न रहती है एवं नित्य ही यह महाशक्ति उस शक्तिमान्के साथ अभिन्न रहकर भी उसीके ऐश्वर्यप्रकाश और आनन्दविलासके निमित्त उसको आलिङ्गन करके भिन्न भावके अवलम्बनपूर्वक विचित्ररूपमें विचित्र वेषमें परिणामको प्राप्त होती रहती है।

योगीगण निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें उसी मूल तत्त्वके अद्वैत-भाव—शक्ति और शक्तिमान्के अभेदभावका अनुभव करते हैं। ज्ञानीजन उसको तत्त्वतः भेदवर्जित अद्वैत एवं व्यवहार क्षेत्रमें—विश्वरूपमें प्रकाशके क्षेत्रमें, अनन्तभेदगर्भित अद्वैत या द्वैतभावापन्न मानकर वर्णन करते हैं। कालातीत, भावातीत, विश्वातीत दृष्टिसे वे नित्य ही अद्वैत हैं—वहाँ स्व और स्वधाका नित्य ही अभेद है, एवं कालावच्छिन्न भाववैचित्र्याश्रित विश्वव्यापारसंश्लिष्ट दृष्टिसे वे नित्य ही द्वैतरूपमें प्रकाशित हैं—वहाँ स्व और स्वधाका नित्य ही द्वैतभाव है; स्वधाके विचित्र परिणामके भीतरसे होकर ही कूटस्थ अविक्रिय 'स्व'का विचित्ररूपमें प्रकाश होता है—विचित्र परिणाममयी अनन्तरसविलासमयी स्वधाका आलिंगन और आस्वादन करके ही अनन्त ज्ञान, ऐश्वर्य, माधुर्यके आधाररूपमें उनका आत्मसम्भोग होता है। फिर कालप्रवाहके भीतर स्वधाकी महाप्रलयावस्थामें स्व और स्वधाके निरवच्छिन्न अभेदभाव एवं सृष्टिवैचित्र्यकी अवस्थामें स्व और स्वधाके भेदके भीतर ही उनका मिलन होता है।

उपनिषदोंने साधारणतः इसी परम तत्त्वको 'ब्रह्म' नाम दिया है। ब्रह्म शब्दका अर्थ है बृहत्—सबकी अपेक्षा बड़ा, जिसकी अपेक्षा बड़ेकी कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमारी चिन्तनधारा जिस ओर होकर प्रवाहित हो, जहाँ जाकर उसका पर्यवसान हो जाय, जिस तत्त्वके भीतर वह परम पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाय, वही ब्रह्मतत्त्व है। उपनिषद् उसका स्वरूप वर्णन करने जाकर 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' ऐसा निर्देश करते हैं। इस उत्पत्तिविनाश-शील विषयजगत्के अन्दर हमारी चिन्तामणि ऐसे एक सत्यका अनुसन्धान करती है, जो नित्य ही सत्य है, जिसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं, जिसकी सत्ताका कोई परिच्छेद नहीं, समस्त उत्पत्तिविनाशशील पदार्थ जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रयमें स्थित रहते हैं, जिसकी सत्तासे उनकी सत्ता है एवं विनाश-कालमें जिसकी सत्तामें वे सब विलीन हो जाते हैं, वही सत्यस्वरूप है। हमारी सत्यानुसन्धित्सामयी विचारधारा उसके साथ संयुक्त होने पर ही परम सार्थकतामें प्रतिष्ठित होती है। सुतरां ब्रह्म सत्यस्वरूप है। और हमारा ज्ञान चाहता है समस्त ज्ञेयको हजम करके आत्मसात् कर लेना। जबतक कोई पदार्थ ज्ञानके बाहर रहकर ज्ञेयविषयरूपमें प्रतिभासित होता है, जबतक ज्ञान और ज्ञेयके बीच, विषयी और विषयके बीच किसी प्रकार व्यवधान रहता है, तबतक ज्ञानकी परितृप्ति नहीं होती, तबतक ज्ञान अपनी महिमामें परिपूर्ण होकर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। समस्त ज्ञेय जब ज्ञानका अंगीभूत हो जाता है, ज्ञान और ज्ञेयके मध्य जब किसी प्रकारका व्यवधान या भेद नहीं रह जाता, तभी ज्ञानसाधना अपने चरम आदर्शकी उपलब्धि करती है, तभी ज्ञानकी परिपूर्ण सिद्धावस्था होती है। सुतरां ज्ञानस्वरूप ही ज्ञानका चरम लक्ष्य है, ज्ञानस्वरूप ही ज्ञानकी दृष्टिमें सबसे बड़ा है। अतएव ब्रह्मको ज्ञानस्वरूप भी मानना होगा।

इसके अतिरिक्त हमारा ज्ञान, चिन्ता, अनुभूति और आस्वादन कोई भी किसी सीमाके भीतर आबद्ध रहकर कृतकृत्यताका बोध नहीं कर सकते। हमारी प्रत्येक वृत्ति चरम कृतार्थताके लिए अनन्तको चाहती है। कोई सान्त वस्तु कितनी भी बड़ी हो हमारा मन उसे सबसे बड़ी मानकर स्वीकार करनेको राजी नहीं होगा। सुतरां ब्रह्मको अनन्त मानकर धारणा करनी ही होगी। ज्ञानमें, गुणमें, वीर्यमें, ऐश्वर्यमें, प्रेममें, आनन्दमें, सभी क्षेत्रोंमें परमतत्त्वको अनन्त मानकर धारणा नहीं करनेसे हमारा चित्त उसको अपने चरमलक्ष्यका सम्यक् परिपूर्ण स्वरूप मानकर तृप्ति प्राप्त नहीं कर सकता। पक्षान्तरमें इन सब ज्ञान, गुण, वीर्य, ऐश्वर्य, प्रेम, आनन्द आदिके विभिन्न रूपोंमें आनन्द आदिके प्रकाशका आपेक्षिक होना अवश्यंभावी है, ज्ञेय विषयके समाधानमें ज्ञानका प्रकाश, विरोधी शक्तिको कुण्ठित करनेमें शक्तिका प्रकाश, प्रेम-पात्रको अपनानेमें प्रेमका प्रकाश, और सम्भोग्य वस्तुके संधानमें आनन्दका प्रकाश होता है। इन सब प्रकाशोंके भीतर सर्वत्र ही विक्षेप है, आत्मसंकोच है, राजस-तामस भावोंका मिश्रण है। किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ होनेपर भी वह अनन्त नहीं हो सकता। आपेक्षिक गुणादिके द्वारा उसका स्वरूप वर्णित होनेसे उसकी सत्ता पारमार्थिक तो नहीं हो सकती, वैसा होनेपर वह सत्यस्वरूप और ज्ञानस्वरूप तो नहीं हो सकता। सुतरां उसके अनन्तत्वका लक्षण ही है कि उसके भीतर ज्ञान और ज्ञानीका भेद नहीं, गुण और गुणीका भेद नहीं,

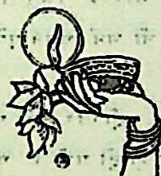
शक्ति और शक्तिमानका भेद नहीं, ऐश्वर्य और ऐश्वर्यशालीका भेद नहीं, प्रेमिक, प्रेम और प्रियका भेद नहीं, आनन्द, आनन्दप्रद और आनन्दीका भेद नहीं। वे ज्ञानस्वरूप हैं, गुणस्वरूप हैं, शक्तिस्वरूप हैं, ऐश्वर्यस्वरूप हैं, प्रेमस्वरूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं, हमारे विक्षिप्त और संकीर्ण चित्तमें जो सब भाव भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीयमान होते हैं, सभी उनके भीतर एकीभूत हैं, सभी वे हैं, सबके स्वरूप भी वे हैं, आश्रय भी वे हैं, सब भावोंके विभिन्न आपेक्षिकरूपमें अभिव्यक्तिके स्रोत भी वे ही हैं। उनके स्वरूपमें कोई आपेक्षिकता नहीं, किन्तु उन्हींके स्वरूपसे सब प्रकारकी आपेक्षिकताका उद्भव होता है। उन्हींको आश्रय करके सम्पूर्ण आपेक्षिकताकी स्थिति और गति है। इसके अतिरिक्त उन्हींके स्वरूपमें सम्पूर्ण आपेक्षिकता डूबकर अद्वैतभावमें पर्यवसित हो जाती है, सुतरां वे अनन्त हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषदमें इसी परमतत्त्वको शिवकी संज्ञा प्रदान की गयी है—

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ् शिव एव केवलः।

जब आलोक-अन्धकारका भेद नहीं रह जाता, सत् और असत्का भेद नहीं रह जाता, किसी प्रकारके भेद या द्वैतभावका प्रकाश नहीं रह जाता तब एकमात्र शिव ही आत्मस्वरूपमें विराजमान रहते हैं, माण्डूक्य-उपनिषद्‌में उसीका 'शान्तं शिवमद्वैतम्' एवं 'स आत्मा स विज्ञेयः' कहकर उल्लेख किया गया है। मुण्डकोपनिषद्‌में उसीका 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' कहकर निर्देश किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में भृगुवल्लीमें आनन्दतत्त्वको ही सबकी अपेक्षा परमतत्त्व मानकर निर्देश करते हुए आनन्दको ब्रह्मका स्वरूप मानकर घोषणा की गयी है, ब्रह्मानन्दवल्लीमें वे रसस्वरूप मानकर घोषित हुए हैं एवं यही रसस्वरूप या आनन्दस्वरूप ही इस यावन्मात्र सृष्टिवैचित्र्यके मूलमें विद्यमान हैं। विश्वमें सर्वत्र आनन्दमें ही अपनेको विलसित करके रहते हैं। रस या आनन्दके सिवा और किसीकी भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसका वर्णन हुआ है। एक अद्वितीय चिद्‌घन आनन्द ही अपनी स्वरूपभूता लीलामयी ह्लादिनी शक्तिके विकास द्वारा अपनेको आस्वादयिता और आस्वाद्यरूपमें विभक्त करके आत्मसम्भोग करते रहते हैं। नासदीय सूक्तके एक एवं स्वधा ही ब्रह्म और माया, शिव और शक्ति तथा आनन्द और उसकी ह्लादिनी शक्ति हैं। वैष्णवशास्त्रोंमें "स्व"की स्वरूपभूता स्वधा, ब्रह्मकी स्वरूपभूता माया, शिवकी स्वरूपभूता शक्तिको उनकी विकासधाराके अनुसार तीन भागोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है—संधिनी, संवित् और ह्लादिनी। परमतत्त्वकी सत्यस्वरूपमें धारणा करके उनकी शक्तिको कहा जाता है संधिनी, चित्स्वरूपमें धारणा करके उनकी शक्तिको कहा जाता है संवित् और आनन्दस्वरूपमें धारणा करके उसकी शक्तिको कहा जाता है ह्लादिनी। स्वकीया महाशक्तिकी संधिनी वृत्तिके विकासके समय अनन्त सत्ताके आधाररूपमें वे विद्यमान रहते हैं, संविद्-वृत्तिके विकासके समय वे अनन्त ज्ञेयके ज्ञातारूपमें वे प्रकाशमान होते हैं और ह्लादिनी शक्तिके विकासके समय वे अनन्त सम्भोगके सम्भोक्ताके रूपमें लीलायमान होते हैं। और भी, इस महाशक्तिकी एक बहिरंग दिशा है एक आवरणविक्षेपमयी वृत्ति है, जिसके विकासकालमें वे अपने सद्‌रूपमें,

ज्ञेयरूपमें और सम्भोग्यरूपमें विचित्र भावापन्न अभिव्यक्तिके भीतर अपनेको गोपन करके रखते हैं। अपनी अद्वितीय सत्स्वरूप, चित्स्वरूप, आनन्दस्वरूपको आवृत करके केवल बहुरूपमें प्रतीयमान होते हैं। उनकी सच्चिदानन्दमयी अंतरंगा शक्ति और आवरणविक्षेपमयी मायाशक्तिके बीचमें उनकी एक तटस्थाशक्ति—महाशक्तिकी एक तटस्था वृत्ति है, जिसके विलासके द्वारा वे असंख्य चित्कणोंकी जीवरूपमें लीला करते रहते हैं। सभी जीव उनके साथ अभिन्न होकर भी भिन्न हैं, उस अखंड चैतन्यस्वरूपके अंशीभूत होते हुए भी बहिरंगा शक्तिके राज्यमें अपने स्वरूपको भूलकर इतस्ततः कालकवलित हो रहे हैं एवं बहिरंगा शक्तिके द्वारा कवलित होनेसे अव्याहृति पानेके लिए साधनोत्सुक हैं। इस प्रकार एक अद्वितीय परमतत्त्व ही स्वकीया स्वरूपभूता शक्तिके विलास द्वारा असंख्य जीवरूपमें और असंख्य जडरूपमें असंख्य द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य तथा कर्त्ता और कार्यरूपमें एवं उन सबके स्रष्टा, पाता, ज्ञाता, नियंता, सम्भोक्ता एवं संहर्ताके रूपमें अनादि अनंतकालसे आत्मविलास कर रहे हैं।



जगपति विहरत.....

चकर-मकर चकि चकपक चितवत,
चटक-मटक चट चटुल चपलमें।
भरकि भगत अरि भर-भर भरसक,
भयकर भभकत भरि भट भलमें॥
इधर-उधर झट उलट-पुलट थल,
उथल-पुथल तल अदल-बदलमें।
सुरति-सुमतिधर कुमतिन-छयकर,
जगपति विहरत नित जल-थलमें॥

—श्रीशिवकुमार मिश्र 'मयूर'

घोर अंधकारमें पूर्ण चन्द्रोदय और व्रजकी महत्ता

भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य और उसका कारण

श्रीमिहीलाल शर्मा

★

तमसा अधिक छा गयी थी, नित्यके पहने हुए वस्त्र इतने मलिन हो गये थे कि छूनेमें घृणा और पास बैठनेमें दुर्गन्ध आती थी, लोग बन्धनोंमें इतने जकड़ गये थे कि छूटना असम्भव था। राजा, चोर और रक्षक भक्षकका पार्ट खेल रहे थे, अथवा यही कहा जाय कि ज्ञानका सन्तुलन इतना गिर गया था कि मानव और के लिए नहीं, स्वयंके लिए दानव बनकर अपना ही शरीर खा रहा था। कैसी दशा थी जब भगवान्ने स्वयं नरशरीर धारण कर मथुरा (मधुपुरी) में प्रथम चरण रखा था।

यह कोई नवीन बात नहीं होती, हीरेपर भी यदि बराबर रज पड़ती रहे तो प्रकाश देना बंद ही कर देगा। यही दशा धर्मकी हो गयी। भगवान्के जन्मपर कितना अँधेरा था, वह तो आपको भाद्रपदकी श्रीकृष्ण-अष्टमी बतलाती ही है। सूर्य तो था ही नहीं, क्योंकि रात्रि थी, चन्द्रमा प्रकाश देते सो उनका उदय ही नहीं हुआ था, तारागण ही कुछ अँधेरा दूर करते, तथा बटोहीको कुछ मार्ग बतलाते, परन्तु ऋतु वर्षाकी थी, घना बादल छाया था और उस घनघोर घटा से कुछ बूँदें भी टपक रहीं थी, अतः इससे घोर अन्धकार होना ही सम्भव है, ऐसी दशामें प्रभुने उन माता-पिताको दर्शन दिया जो अकारण ही जेल में बन्द पड़े थे। कारण भी क्या था कि इनके एक महाबलवान् पुत्र होगा (भगवान् अवतार लेगें), अहा क्या दशा थी ? प्रभुके आगमनपर भी यह तैयारियाँ ? नहीं ज्ञात हो तब तो बात और है परन्तु ज्ञात होनेपर भी यह दशा और फिर वह भी उनके माता-पिताके साथ, यही तो बुद्धिका हृदयसे विदा हो जाना है। वहाँ अत्याचारोंकी दशा क्या होगी ? इसका कारण यही है कि जिसके हृदयपर ऐसी मलिनता छा जाती है वहाँ संसारकी सब मलिनता इकट्ठी हो जाती है। उस अवस्थामें लोगोंके हृदय काले तथा महामलिन हो जाते हैं और यही सब कारण प्रभुके जन्मके हेतु बन जाते हैं।

यह अँधेरा इसी समय नहीं, जब-जब प्रभु संसारमें आये, इसीके कारण आये थे। ऐसा ही घोर अन्धकार हुआ था, चाहे भगवान् श्रीनरहरि पधारे या भगवान् श्रीराम या अन्य अवतार। जैसे धर्म करनेवालेकी अधिकाधिक धर्ममें प्रवृत्ति होती जाती है, धर्म उसके सर्वाङ्गमें

प्रतिष्ठित हो जाता है, ऐसे ही यह अधर्म अथवा अज्ञान भी मनुष्यके सर्वाङ्गमें निहित हो जाता है। उसे धर्मसे एक घृणा (खीझ) सी हो जाती है। धार्मिक पुरुषों या ऐसे कामोंसे भी एकदम ऐसी अरुचि और द्वेष हो जाता है कि उसकी छाया भी पसंद नहीं आती। ऐसी क्रूरता जब मानवमें आ जाती है, तो वह स्वभावतः ही दैवी वृत्तियों वाले, भले मानुष, सीधे-साधे लोगोंसे वैर-भाव मानने लगता है, वह न ऐसी बात सुनना चाहता है, न ऐसे कार्य पसन्द करता है जो सन्मार्गके हों, प्रभुकृपाके हेतु हों। राजा कंसने यही तो किया। राज्य मिला, फिर क्या ? अन्वेके हाथकी तलवार, कोई भी मरो, पाप-पुण्य क्या ? आज्ञा होती है, ऐसे धार्मिक कार्य व्यर्थ हैं, बंद किये जायँ, लोगोंको जिससे लाभ हो वह न किया जाय। आचार-विचार करते-करते लोग दुखी हो रहे हैं, अतः संयम नियम बंद किये जायँ, व्यभिचारकी छूट हो, उसके मार्ग खोल दिये जायँ, पातिव्रत्य धर्मसे नारियाँ दुखी हो रही हैं, उनको भी छूट दे दी जाय। बहुत दिनोंसे लोग भोजनपर विविध प्रतिबन्ध लगाये थे, वे सब तोड़ दिये जायँ। अहिंसाकी बात छोड़ो यह एक पागलपन है, हिंसामें कोई पाप नहीं, देशमें पशुओंकी संख्या खूब है, क्यों न ऐसे व्यापार किये जायँ जिससे उनकी संख्या कम हों, सबको लाभ हो, गाय, ब्राह्मण या साधु; इनको विशेष संरक्षण क्यों दिया जाय ? जैसे और सब जीव, वैसे ये लोग।

कहते हैं, एकबार किसी प्रकारसे लाला हुलासराय पटवारी स्वर्गके अधिपति (धर्मराज) चुन लिये गये। वे जब अपनी गद्दीपर आसीन हुए, तो प्रथम यही आज्ञा-पत्र निकाला कि 'मैं आया हूँ, कानून बदले जायँ, स्वर्गमें रहनेवालोंको बहुत दिन स्वर्ग भोगते हो गये, नर्कवाले क्यों बराबर यातनाएँ भोगें ? अतः मेरी आज्ञा है कि स्वर्गके सब प्राणी आज ही नर्कमें डाले जायँ और नर्कके सब जीव सीधे स्वर्गमें भेज दिये जायँ।' क्या अच्छा हुआ, कैसी सुन्दर छूट मिली। धर्मसे थोड़ी भी ग्लानि करनेसे मनुष्यकी यही दशा हो जाती है। राजा कई पीढ़ियोंमें आकर राज्य करने का अधिकारी होता है। सदाचारी और धर्मात्मा पुरुष कई पीढ़ियोंमें बन पाते हैं। कंस राजा उग्रसेनका पुत्र था, परन्तु एक कारण ऐसा बन गया था कि उसमें राजा उग्रसेनका अंश तो नाममात्र को भी नहीं था। यही कारण था कि वह स्वभावमें पितासे एकदम विपरीत मार्गपर चला गया।

भगवान्ने यही सब तो सुधारनेके लिए अवतार धारण किया था। भगवान् राम आये थे तो मधुमास था, वसन्त ऋतु थी, मध्य दिवस था, शीत और घाम भी अधिक न था। शुक्ल-पक्ष था, रात्रि भी प्रकाशमान दिन भी प्रकाशमान। क्योंकि वह त्रेता युग था, इतनी मलिनता नहीं थी। परन्तु जब भगवान् श्रीकृष्णरूपमें पधारे तब तो द्वापरका भी अन्त था, कलियुगकी छाया पड़ने लगी थी, यहाँ तो धर्मके नामपर घोर अँधियारी थी, कृष्णपक्ष था, भाद्रपद था, जहाँ दिनमें भी सूर्य प्रकाश न दें। तब श्रीभगवान्ने दया की। कहते हैं, उस कालमें पृथ्वीने गायका रूप धारण कर भगवान्से रक्षाके लिए प्रार्थना की थी, बस प्रभुने प्रथम गायों पर ही कृपा की। उन गायोंकी कृपासे ही देश पुनः हरा भरा हो गया, सम्पूर्ण वैभव, पूर्ण शुद्ध ज्ञान, उनसे ही प्राप्त किया। इस अष्टमीको, जिसमें महान् अन्धकार था, वह नवीन प्रकाश आया। वह सुन्दर ज्ञान आया जो बहुत कालसे लुप्त हो रहा था।

भगवान् कृष्णका ज्ञान अमर ज्ञान है, आनन्ददायक ज्ञान है, वह एकान्तवासका रूखा ज्ञान नहीं, गृहस्थीका अनुपम सोपान है। जीवनके लिए मधुर रस है। वही तो व्रजमें आपने बहाया है।

व्रज क्या है ?

एक बार श्रीगुरु महाराजसे एक सज्जनने प्रश्न किया कि व्रजकी इतनी महत्ता क्यों है ? और चौरासी कोस ही में क्यों है ? क्या आज भी वहाँ यह सब पाया जाता है ?

आपने बताया कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभुका एक सुन्दर शरीर है, यह व्रज ही उनका हृदयक्षेत्र है। पञ्चकोशोंमें यह आनन्दमयकोश है, प्रभुप्रेमकी इस भूमिपर सदैव ही किरणें पड़ती रहती हैं। यहाँ अज्ञानावस्थामें भी जीव आनन्दमें विचरता है, यहाँका प्रत्येक कण प्रभु चरणोंको स्पर्श कर चुका है, इस वास्ते उसमें आनन्दकी वह शक्ति आज भी विद्यमान है। संसारके महान् भक्तोंने यहाँ ही आकर शरण ली और भक्तिरूप अनन्त धन भी ला-लाकर यहीं छोड़ गये। भगवान् श्रीकृष्णकी महती प्यारी पटरानी श्रीयमुना आज भी उस भूमिको पवित्र और गीली बना रही है। भगवान्के बालपनके वे मधुर शब्द आज भी वहाँके सुन्दर बालकोंमें भरे हुए हैं। सुननेवाले सुनकर आज भी कृतार्थ होते हैं। उनकी प्यार की हुई गायें और बछड़े आज भी वहाँ वैसे ही हैं। वह वृक्ष जिन्हें प्रभुने स्पर्श किया था, जिनकी छायामें रासलीला की थी, आज भी वैसी ही छाया दे रहे हैं। ऐसा प्रकाश चौरासी कोसके घेरेमें पड़ता है, इसीलिए व्रज चौरासी कोसके मण्डलमें माना गया है।

जो भक्त लोग वहाँ जाते हैं, और जिनके नेत्र गुरुचरणोंकी रजसे मार्जित हो चुके हैं। आज भी प्रभुके सुन्दर दृश्योंको देखते और उस आनन्दका अनुभव करते हैं। भगवान् सदैव व्रजमें रहते हैं, वह उनका धाम है, तीर्थ तो संसारमें बहुत हैं परन्तु मथुरा तो भगवान्का आविर्भाव-स्थान है, उन्होंने द्वारिकामें उद्धवसे कहा भी था कि **'ऊधो मोहिं व्रज बिसरत नाहीं'** जन्मस्थानका प्रेम एक अद्भुत प्रेम होता है, मनुष्य कहीं भी रहे उसे भूलेगा नहीं। इसलिए भगवान् व्रजमें सदैव निवास करते हैं; और सदैव उनकी रासलीला चलती रहती है, परन्तु जिनके नेत्र मलिन हो रहे हैं, और जिनके सामने आत्माका प्रकाश नहीं है। वे कैसे इस अनुपम दृश्यको देखनेकी क्षमता रख सकते हैं। इसलिए प्रभुदर्शनके लिए प्रथम किसी प्रभुभक्त (गुरु) की शरण जाओ, वही आपके नेत्रोंको उन्मीलित करेंगे, और आप उनका दर्शन कर कृतार्थ हो जायँगे, प्रभु भी सामने हैं, नेत्र भी सुन्दर हैं, परन्तु उनमें वह प्रकाश ही नहीं है जिससे भगवान्के दर्शन हो सकें। यह प्रकाश गुरु ही देते हैं। इसीलिए सच्चे गुरु भगवान् ही हैं। उनके ही ज्ञानसे मनुष्य उस परमतत्त्वको प्राप्त करता है जिसमें कभी क्लेश नहीं, कष्ट नहीं, और मृत्युका भय भी नहीं। परन्तु बड़े दुःखका विषय है कि मनुष्य ऐसे अनुपम ज्ञानको भी नहीं पाता न कभी उसे प्राप्त करनेकी इच्छा ही करता है। प्रभुका ज्ञान तो सदैव बहनेवाले जलके झरने हैं जो तृषित जीवोंकी प्यास बुझानेके लिए सदैव बहते रहते हैं। इसी वास्ते शास्त्र हमें उपदेश कर रहे हैं कि 'हे मनुष्यों ! जागो, उठो, और उस निर्मल ज्ञानको प्राप्त करो, देरसे नहीं इसी जीवनमें तुम धन्य होओगे और भवसागरसे अनायास पार हो जाओगे। ●

विषम भवभार हरो

दर्शन दो कृष्णमुरार विषम भवभार हरो।
अव कहाँ यहाँपर धर्मराजका आसन,
मत समझो, हुआ समाप्त दुष्ट दुःशासन।
तन धन जीवन या लाज कहाँ रक्षित है?
होता किसका है कहाँ न कब उद्वासन?
भारतके सखा उदार दस्यु-संहार करो॥

लिप्साकी जबतक लगी लाग है मनमें,
अधिकारोंका संघर्ष छिड़ा जन-जनमें।
कैसे हो युद्ध समाप्त महाभारतका
जागे जब तक सद्भाव न दुर्योधनमें॥
करवा कर गदा प्रहार उचित प्रतिकार करो॥

पोसा-पाला था बड़े प्यारसे जिनको,
पोंछा सहलाया मृदु दुलारसे जिनको।
उनपर चल रही कटार कहाँ हो मोहन!
पूजा तुमने सुन्दर सिंगारसे जिनको॥
वे गायें रहीं पुकार विपत्ति अपार हरो॥

वह धरा, जिसे पद-अर्पणसे सुरलोक किया,
वह वृन्दावन, था प्रगट जहाँ गोलोक किया।
उस कृशित विरहिणी कालिन्दीको देखो-
जिसके कल कूजित कूलोंको निज ओक किया॥
इन सबकी सुनो गुहार ग्रहण आभार करो॥

मानसके मधुवनमें उतरो मुरलीधर,
आकर्षक उन्मादक पञ्चम गूँजे स्वर।
जीवन-यमुना उल्लास भरी लहराये-
प्राणोंका वंशीवट हो गोपीनाथ मुखर॥
राधाके प्राणाधार प्रकट रसधार करो॥

—'राम'

ईश्वरसत्ता तथा अवतारविषयक मननीय विचार—

अवतारका प्रयोजन

आचार्य श्रीरघुनाथ पाण्डेय



भारतीय मनीषियोंने सृष्टिके रहस्योंके अन्वेषणका अपेक्षित प्रयास और उन गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार किया था। उन्होंने अपनी उन अमूल्य अनुभूतियोंको श्रद्धावान्, अनसूयक, सेवा-प्रवण शिष्योंको वताया। सृष्टि रहस्यान्वेषणके प्रसंगमें उन्हें सृष्टिकर्ता आत्माका भी भान हुआ, क्योंकि इतने विशाल दृश्यप्र-पंचका निर्माण किसी इच्छा, ज्ञान, क्रियाशक्तिसंपन्न चेतनके माने विना सुलभतासे संघटित नहीं हो पाता था। जव कि घड़ा, वस्त्र, गृह, कूप, वाटिका आदि कार्य किसी कर्ताके द्वारा निर्मित प्रत्यक्षदृष्ट हैं तो पृथिवी, पर्वत, नदी, नद, समुद्रसे सुसज्जित यह जगत् भी किसीका कार्य ही है। उनके निर्माता हम लोग हैं नहीं, तो अवश्य ही इसका विधाता परमात्मा मानना पड़ा है, ऐसी सब दृश्य वस्तुएँ कव हुईं? इसे वतानेवाला कोई प्रामाणिक पुरुष नहीं मिला और न तो इसके कभी न रहनेका ही कोई प्रवक्ता था, अतः सृष्टिको अविछिन्न प्रवाह रूपसे अनादि मानना ही युक्ति-युक्त प्रतीत हुआ।

कर्ताकी शक्तिका विचार करनेपर भासित हुआ कि शक्ति और शक्तिमान् दोनों परस्पर अभिन्न हैं। एक दूसरेसे कहने-सुननेके लिए ही उनका द्विधाभाव माना गया है, नहीं तो वे दोनों एक ही हैं। एक अद्वय, निर्विशेष सत्ता अपनी स्वतन्त्रतासे अपनी ही भित्तिपर स्वयं जगद्रूपमें चित्रित हो फैल गयी। यतः स्वतन्त्रता एक रूप नहीं रह सकती और न तो ऐसा होना उसके स्वभावानुरूप ही है, अतः उसका अद्वयत्व, नानात्वके रूपमें वदल जाता है। एकाकीपन स्वतः नीरस और उद्वेजक है, अतः दूसरेकी प्राप्तिकी इच्छा ही सृष्टिके आविर्भावका निदान मानी गयी। परसत्ताकी इच्छा अप्रतिहत होनेके कारण इच्छामात्रसे स्वान्तःस्थ विश्व वाहर उल्लसित होने लगा। भारतीय वाङ्मयमें प्रस्थानक्रमसे इच्छाके संकल्प, ईक्षण, स्वातन्त्र्य, विमर्श आदि भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होते हैं। यों तो स्वातन्त्र्य-विलासकी अनन्त विधाएँ हैं, किन्तु उन्हें अनुगत रूपमें कहनेकी शास्त्र-प्रक्रियाके निर्वाहार्थ विद्वानोंने कुछ परिभाषाएँ स्थिर की हैं। वह पूर्ण सत्ता चाहे तो स्वरूपेण भासित हो सकती है, स्वरूपभासित होती हुई भी चाहे तो पररूपतया भी भासित होनेमें स्वतन्त्र है। स्फुरणके समुल्लासकी इयत्ता हो नहीं सकती, चाहनेपर वह स्वरूप, पर-रूप अथवा उभयरूपतया भी युगपत् ही

भासित हो सकती है। इसे शास्त्रीय भाषामें अभेदेन, भेदेन, भेदाभेदेन अवभासन कहा जाता है। अनन्त ब्रह्माण्डोंके नियन्ताका नियमन कहाँ संभव है। उपासकोंके रुचिभेदसे उस परात्पर पूर्ण सच्चिदानन्दघन सत्ताकी अनेक संज्ञायें प्राप्त होती हैं। जैसे शिव, नारायण, शक्ति, राम, कृष्ण, नृसिंह, सूर्य, गणपति, काली, तारा, दुर्गा, त्रिपुरसुन्दरी आदि-आदि।

अवतारका प्रयोजन

अवतारके कारणोंका अन्वेषण करनेपर भगवद्गीता और गर्गसंहिता आदिमें अनेक कारण बताये गये हैं। जब-जब धर्मका ह्रास और अधर्मकी अभिवृद्धि होती है, तब-तब धर्मसंस्थापनार्थ और दुष्टों, अधार्मिकोंके संहारार्थ मानुषरूपमें अवतीर्ण होकर उक्त भगवान् प्रतिबन्धकोंका दमन कर जगत्‌की स्थिति समञ्जस करते रहते हैं।

सामान्य और विशेष धर्म : धर्म-संरक्षण

सामान्य और विशेष भेदसे धर्म दो प्रकारका है।

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"

यह सामान्य धर्म है और यह मानवमात्रके कल्याणके लिए है, इसके पालनसे वैयक्तिक उत्कर्षके साथ समाजका भी अभ्युत्थान होता है और जीवन-संघर्ष कम होकर सुव्यवस्था रहती है। महाभारतकारने विश्वब्रह्माण्डकी धारिकाशक्तिको ही धर्मकी संज्ञा दी है।

"धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥"

पुण्य और पाप शब्द क्रमशः धर्म और अधर्मके पर्याय माने जाते हैं। धर्मके विषयमें और भी व्यापक दृष्टिकोण महाभारतमें ही दूसरी जगह देखा जाता है। "अपनेको जो कार्य प्रिय लगे दूसरेको भी वह प्रिय होगा अतः वह कर्तव्य है और जो स्वयंको अप्रिय हो वह दूसरेके लिए भी अप्रिय होनेके कारण करने योग्य नहीं है। इस प्रकार विवेकपूर्वक प्रवृत्ति धर्म है।

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥"

धर्मके नामसे चिढ़नेवाले भी उक्त लक्षणसे असहमत नहीं हो सकते, क्योंकि धर्मके इस लक्षणके द्वारा सभी प्रकारके संघर्षोंका बचाव कर दिया गया है। ऐसे अनिवार्य धर्मोंके न

---

१. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (भगवद्गीता अध्याय ४)

२. गोसाधुदेवताविप्रवेदानां रक्षणाय वै।
तनुं धत्ते हरिः साक्षाद् भगवानात्मलीलया॥ (गर्गसंहिता अध्याय १ श्लोक १३)

पालन करनेसे मानवताकी सुरक्षामें संशय है। अतएव मनु तथा व्यास दोनों ही इसके उल्लङ्घनपर असंतोष व्यक्त करते हैं। ऐसे धर्मका मूल्य जीवनसे भी बड़ा है, अतएव महर्षि व्यासने काम, भय, लोभ या जीवन-रक्षा आदिके कारण भी धर्मपरित्यागका स्पष्ट निषेध किया है। जीवनहेतु काम, लोभ, सुख-दुःख आदि अनित्य वस्तुओंके समक्ष शाश्वत धर्मका उल्लङ्घन अनुचित कहा है—

"न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥"

मानवजीवनोपयोगी सामान्य धर्मके परित्यागसे ही धराधाम अनुचित भारसे बोझिल होने लगता है, जिसे वहन कर सकना धरित्रीके लिए भी कठिन हो जाता है और वह गोरूपमें ब्रह्मादि जगत्के कर्णधारोंसे अपनी असमर्थता अभिव्यक्त करती है। गौ, ब्राह्मण, वेद, सती-महिला, सत्यवादी पुरुष, अलोभी और दानशूर ये सात प्रकारके व्यक्ति पृथ्वीके धारक माने गये हैं। इनकी अवहेलना भगवान्को असह्य होती है। रावण, कंस, शिशुपाल आदि दुष्ट असुर इनमेंसे एक दोके नहीं अपितु सातोंके भयंकर उत्पीड़क रहे हैं। जब कभी इनका उत्पीड़न होता है, तब सृष्टिका सुन्दर प्रकारसे चल पाना असंभव हो जाता है। इस संकेतके अनुसार आजकी स्थिति भी संतोषप्रद नहीं है। राष्ट्रीय जीवन-धारा सहज विपरीत हो गयी है। इसी उदाहरणसे पुराने समयकी स्थितिकी कल्पना अनायास ही हो जाती है। वर्ण और आश्रम-परक धर्म विशेष धर्म हैं। इनका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति समूहको दूषित करता है और धीरे-धीरे समाज और फिर राष्ट्र उत्पथगामी बन जाता है। अतः विशेष धर्मका परित्याग भी उचित नहीं है, किन्तु इसकी चर्चा आजकल अनुपयुक्त है; क्योंकि आज उनका यथावत् पालन कई कारणोंसे नहीं हो पा रहा है।

दुष्टोंका निबर्हण (या संहार)

वेद शास्त्र विहित धर्मका उल्लङ्घन ही दुष्टताका बीज है। बुद्धिवादके आधारपर जब मनुष्य परंपरागत मान्यताओंका अतिक्रमण कर देता है तो अधर्मका बीज वपन हो जाता है और बुद्धिवादी मार्गका समर्थन ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, अधर्मका अंकुर पालित-पोषित होता हुआ वृद्धिगत होता है। धर्मके सेतु टूटने लगते हैं और उसका लोप उपस्थित हो जाता है। इसी संधिकालमें भगवान्का आविर्भाव होता है और हेतुवादियों, पाखण्डियोंका दमन प्रारम्भ हो जाता है। दुष्ट-निबर्हण भगवदवतारका द्वितीय प्रयोजन है। इसके द्वारा साधु-परित्राणपूर्वक धर्मसंस्थापन हो जाता है। हम देखते हैं कि भगवान् कृष्णका पूरा बाल्यकाल दुष्टदमन करते ही बीतता है। एकके बाद एक आक्रमण उनपर होता है और उसे दूर करना उनकी ही दक्षता, शूरता तथा ईश्वरताका कार्य है। बीच-बीचमें उन्हें गोपों तथा इन्द्र आदि देवोंके संदेह-निवारणका कार्य भी करना पड़ता है। दुष्टनिग्रह द्वारा ही भगवान्ने लोक-शिक्षाका मार्ग प्रशस्त किया है। इस कार्यसे मनुष्य प्रेरणा ग्रहण करें और अपनी शक्तिका उपयोग दुष्टताके दलनार्थ करें, तभी लोक-मंगलका आदर्श सुरक्षित रहेगा।

हमारे समाजमें अवतारके इस प्रयोजनकी घोर उपेक्षा हो रही है जिसके कारण राष्ट्रका ह्रास होता चल रहा है। लोग सुगम मार्गोंके पालनमें अधिक रुचि रखते हैं, किन्तु संघर्षसे बचते हैं। यह भगवान्का आदर नहीं अपमान करना ही है। भगवान् स्वयं संघर्ष करें और हम शक्ति रहते हुए भी संघर्षको टालते चलें, अपना जीवन सीमित और अपमानित करते चलें, यह हमारे लिए शोभन नहीं है। यदि हमको वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय अभ्युदय करना है तो संघर्षशील बनना होगा। नेता, समाजसुधारक, उपदेशक, अध्यापक, मजदूर, किसान सभीको संघर्षके आह्वानपर संघटित होना होगा, अन्यथा धर्मके लोपका भय और तद्द्वारा हमारे अस्तित्वका भय उपस्थित हो जायगा।

धर्म-संस्थापन

धर्म-संस्थापन भगवान्के अवतारका तीसरा प्रयोजन है। दुष्टोंके उत्पातसे विशृङ्खलित समाजमें पुनः यज्ञोंकी प्रतिष्ठा, गौ, ब्राह्मण, देवता आदिके सत्कारकी व्यवस्था तथा वेदशास्त्र पुराणोंके प्रति लोगोंमें श्रद्धा उत्पन्न करना और लोकयात्राको निर्बाध रूपसे प्रवाहित करना भगवान्का तीसरा कार्य है। पाखण्डियोंके द्वारा शास्त्रोंका अर्थ विकृत करना ही धर्मका मूलोच्छेदन है, अवतार ग्रहण कर भगवान् वेदशास्त्रोंका ठीक-ठीक अर्थ बोध कराते हैं और तदनुरूप आचरणके लिए प्रजाको प्रेरित करते हैं, इससे अनादिकालसे चली आती हुई परम्पराएँ सुरक्षित हो जाती हैं और लोक-जीवन मंगलमय मार्गकी ओर उन्मुख हो जाता है।

अवतारोंके प्रकार-भेद

भगवान्का अवतार ६ प्रकारका है, १. अंशावतार, २. अंशांशावतार, ३. आवेशावतार, ४. कलावतार, ५. पूर्णावतार, ६. परिपूर्णतमावतार। ब्रह्माके मानसपुत्र मरीचि आदि प्रथमावतारमें आते हैं। ब्रह्मा आदि भी अंशावतार हैं। परशुराम आवेशावतार हैं और कपिल, कूर्म आदि कलावतार हैं।

नृसिंह, राम, श्वेतद्वीपाधिपति विष्णु, वैकुण्ठ, यज्ञ तथा नर-नारायण पूर्णावतार हैं। अनन्त ब्रह्माण्डाधिपति गोलोकधाममें विराजनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परिपूर्णतम अवतार हैं। जो कर्तव्य कर्मके अधिकार मात्रको ही (जैसे इन्द्र, यम) करते हैं, वे अंश और जो इन्द्रादिकी आज्ञा पालन करें वे अंशांश हैं। जिनमें प्रविष्ट हो भगवान् कर्तव्य कार्यको करके अन्तर्हित हो जाते हैं वे आवेशावतार हैं। युगधर्मका परिचय प्राप्त कर उन्हें संचालित कर युगान्तमें जो अन्तर्हित होते हैं वे कलावतार हैं। जिस अवतारमें चतुर्व्यूह और ९ रस संलक्षित हों तथा अन्य अलौकिक ऐश्वर्य अभिव्यक्त हों वह पूर्ण कहा जाता है। जिस अवतारमें समस्त तेज लीन होते हैं, जिसमें पूर्णावतारके सब लक्षण हैं, तथा जिसको लोग भिन्न-भिन्न भावोंसे देखें तथा जो एक मुख्य कार्यके लिए अवतरित होकर अन्य अनेक कार्य करे वही परिपूर्णतम है। भगवान् कृष्णके आविर्भावसे लेकर अन्तर्धान तकके कार्योंका आकलन करने पर स्पष्ट है कि उनका अवतार सर्वातिशायी है। जीवनका कोई भी पक्ष उनसे अदृष्ट या अस्पृष्ट नहीं रहा। धर्म,

नीति दोनोंका इतना कुशल संचालन और किसी अवतारमें नहीं दिखाई पड़ता। उनकी महत्ताका दर्शन हमें उनके जन्मस्थानसे ही प्राप्त हो जाता है और रासक्रीडाका प्रसंग उनकी परिपूर्णताका निदर्शन है। जिस वंशमें उन्होंने अवतार ग्रहण किया उसका तथा अपने पुत्र-पौत्रोंका भी क्षय उन्होंने अपनी आँखोंके सामने होता देखा, किन्तु उनकी आततायिताके कारण उनके प्रति एक शब्द भी ममताका नहीं व्यक्त किया। जहाँ पूतना, तृणावर्त, अघासुर, धेनुक आदि आदि असुरोंका वध उनके ऐश्वर्यका प्रकाशक है, वहीं गोवर्द्धनोद्धार उनके संघटन शक्तिका द्योतक है। महाभारतमें महाराज युधिष्ठिरका दूतत्व, तथा अर्जुनका सारथ्य, जरासंधके आक्रमणके भयसे द्वारिकागमन आदि उनकी नीतिमत्ताका परिचायक तथैव पुत्रों सहित आततायी यदुओंका संहार-प्रवर्तन उनकी परिपूर्णताका अप्रतिम उदाहरण है। भगवान् श्रीकृष्ण ऐतिहासिक महापुरुष होनेके साथ ही सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्मके परिपूर्णावतार सिद्ध हैं। उन्होंने केवल आततायी असुरोंका ही नहीं, आततायी मनुष्यों तथा मत्सरी देवोंके अभिमानका भी दलन करके धराधामको सर्वथा निर्द्वन्द्व निर्मत्सर तथा आतंकरहित कर दिया।

इस तरह संक्षेपमें आगमशास्त्रानुसार सृष्टिक्रम तथा गर्गसंहिता, गीता आदिके आधार पर भगवान्के अवतारका प्रयोजन प्रस्तुत किया गया है। भगवद्भक्तों, प्रेमियों और ज्ञानियोंके उद्धारके लिए भी भगवान्का आविर्भाव होता रहता है और वह उक्त प्रयोजनोंसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, किन्तु इस विषय पर यथावसर द्वितीय प्रयासमें प्रकाशप्रक्षेप संभव है।

●

उत्कंठा

मन अब नाहिन धीरज पावत।
सोवत जागत सुधि न बिसरत, लोचन भरि-भरि आवत॥
प्रेम पवन छिन-छिन झक झोरत बिरह सिंधु उमडावत।
सहज माधुरी रूप मनोहर, नैनहिं मनहिं रिझावत॥
नित नव रम्य रूप छवि, निरखत सहज हृदय भरि आवत।
अब बिलम्ब जिन करहु मिलहु प्रभु आवहु जिय घबरावत॥

—श्री बाबूलाल गोस्वामी

गोवर्धन-पूजा

'श्री शङ्खपाणि'



(१)

वर्षा-ऋतु बीत चुकी है। कदम्ब-कुसुमोंसे समलंकृत श्याम वनमें गौर आभा-सी फूट पड़ी है; मानो श्यामसुन्दरके अङ्कमें वृषभानुनन्दिनीकी प्रभा उद्भासित हो रही हो। विकासको प्राप्त हुए कास यत्र-तत्र शरत्सुन्दरीकी हासच्छटा-सी बिखेर रहे हैं, श्याम घनके विरहमें निष्पंद मोरोंकी बोलती बंद है। किन्तु चकोरोंके मनमें, नयनोंमें अमंद आनन्द छा रहा है। उन्हें पास ही वसुधापर अनावृत शशि-सुधाके पानका सुपास जो मिल गया है। पपीहोंकी प्यास बढ़ गयी है। उनकी आकुल पुकारका स्वर तीव्र हो उठा है। व्योममण्डलमें वारिविहीन बादल धुनी हुई रूईके ढेर-से यत्र-तत्र बिखरे दीख पड़ते हैं। मस्तकपर बलाहकों-की सफेद पगड़ी, पार्श्वभागमें हंस-समूहोंके शशिप्रभ चँवर तथा दिनमें आतप और रातमें चाँदनीके श्वेतच्छत्र धारण किए अकाश मूर्धाभिषिक्त सम्राट्-सा प्रतीत होता है। समस्त जलाशय सन्तोंके आशयसे निर्मल हो गये हैं। सरिताओंका पानी ज्ञानीकी ममता-सा घट रहा है। प्रफुल्ल कमलोंसे अलंकृत सरोवर तारकावलियोंसे अङ्कित अम्बरके साथ होड़ ले रहे हैं। सहस्रों विकीर्ण शिखण्ड-खण्डोंसे सुशोभित वनभूमि सहस्रनेत्रधारिणी-सी प्रतीत होती है। सूर्य और चन्द्रमा क्रमशः दिन और रातमें मेघोंके मलिन वस्त्र उतार प्रभासे धुला हुआ अम्बर धारण किए अत्यन्त उद्दीप्त दिखायी देते हैं। यमुनाका पुलिन कारण्डवोंके कलरव तथा गोपाङ्गनाओंके नूपुर-रवसे मुखरित हो रहा है। आभूषणोंकी रुनझुनके साथ दधि-मन्थनकी मधुर धुन व्रजके घर-घरमें व्याप्त हो रही है। ग्वालोंमें उत्साह और उमंगका रंग है। उनके मन-प्राणोंमें अभूतपूर्व उल्लास लास्य कर रहा है। समस्त व्रजमण्डलमें इन्द्रयागकी बड़े जोर-शोरसे तैयारी हो रही है।

यों तो प्रतिवर्ष यह उत्सव मनाया जाता है। पर कन्हैयाका ध्यान इसी वर्ष इसकी ओर आकृष्ट हुआ है। क्यों न हो, अब वह सात वर्षका हो गया है। कहाँ क्या हो रहा है? इस बातको समझने लगा है। प्रत्येक कार्यमें बड़े बूढ़ोंका हाथ बँटाने लगा है। उसने कौतूहल-वश एक गोपवृद्धसे पूछा—बाबा! यह काहेकी तैयारी हो रही है? कुछ मुझे भी बताओगे?'

'हाँ हाँ लाला! तुझे नहीं बताऊँगा तो और किससे कहूँगा? अब तू सयाना हो गया, समझदार हुआ। तुम्हें ही तो यह सब करना है, सँभालना है। हम बूढ़े लोग कितने दिन तक इस धरतीके बोझ बने रहेंगे?' उपनन्दने कहा।

'बाबा ! यह सब चिन्ता छोड़ो, हम तुम सदा साथ रहेंगे, जहाँ भी जाना होगा, साथ ही चलेंगे । मुझे इस भावी उत्सवके बारेमें बताओ ।' कन्हैयाने उत्सुकता प्रकट की ।

'अच्छा, अच्छा लाला सुनो—यह इन्द्र-पूजाका उत्सव होने जा रहा है । देवताओंके राजा इन्द्र अपने सेवक मेघोंको प्रेरित करके जब भरपूर पानी बरसाते हैं तो वनमें घास-पात बढ़ते हैं और खेतोंमें अनाजकी उपज भी बढ़ जाती है । उसीसे हमारे गौओंकी और हमारी जीविका चलती है । अतः हम देवराज इन्द्रकी प्रसन्नताके लिए यह पूजनोत्सव मनाते हैं ।'

'यह वर्षा समस्त भूमण्डलमें होती है या केवल व्रजमें ?'

'नहीं लाला, होती तो समस्त भूमण्डलमें ही है, किन्तु कहीं-कहीं, जहाँ इन्द्रकी कृपा नहीं होती, अवर्षण भी हो जाता है ।'

'तब तो इस धरतीपर सर्वत्र इन्द्र-पूजा होती होगी ?'

'सर्वत्रकी तो हम नहीं जानते, किन्तु हमारे व्रजमें अवश्य होती है ।'

'बाबा ! जो सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा परमेश्वर है, वही इस विश्वके पोषण तथा संरक्षणके लिए सर्दी, गर्मी और वर्षाकी व्यवस्था करता है । संसारकी सृष्टि रजोगुणसे हुई है और रजोगुणसे ही प्रेरित होकर मेघ वर्षा करते हैं । इसमें इन्द्रका क्या पुरुषार्थ है ?'

'किन्तु इन्द्रके कोपसे अवर्षण या अतिवर्षण तो हो सकता है ?'

'जीवको जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, भय और क्षेम उसके पूर्वकर्मानुसार ही प्राप्त होते हैं । प्रारब्धके फलको इन्द्र भी नहीं टाल सकता । अवर्षण और अतिवर्षणमें भी जीव-समुदायका प्रारब्ध ही कारण है ।'

'तो क्या हमें देव-पूजा बंद कर देनी चाहिए ?'

'कदापि नहीं, देवता हमारे उपकारी हैं, उनकी पूजा अवश्य होनी चाहिए । स्थान-स्थानके देवता भिन्न-भिन्न हैं । हमें व्रजके देवताकी पूजा करनी चाहिए ।'

'व्रजके देवता कौन हैं ?'

'बाबा ! हमें देवता ढूढ़नेके लिए ऊपरकी ओर नहीं देखना चाहिए । हम जिस धरतीपर हैं, वहीं हमारे देवता भी हैं । जिससे जिसके जीवनका निर्वाह और पोषण हो, वही उसका देवता है । हमारी जीविका इस वनसे, गिरिराजसे और गौओंसे चलती है, अतः ये ही हमारे देवता हैं ।'

'वन और पर्वत तो जड हैं !'

'परन्तु इनके अधिष्ठाता देवता चेतन हैं । प्रत्येक जड वस्तुका कोई चेतन अधिष्ठाता देवता होता है; जैसे हिमालयके देवता हैं हिमवान्, जिनकी पुत्री पार्वतीजी हैं ।' इनके अतिरिक्त गौएँ तो प्रत्यक्ष देवता हैं ही ।

'गौओंका उपकार तो समझमें आता है; किन्तु वन और पर्वतके क्या उपकार हैं ?

'हम वनमें रहते हैं, यहाँके फल-फूल खाते हैं; हमारी गौएँ वनमें तथा गिरिराज परिसरमें घासें चरती हैं; यहाँके अधिष्ठाता देवता वनस्पति और गोवर्धन—हमारी और इन गौओंकी अव्यक्त रूपसे हिंसकोंके भयसे रक्षा करते हैं ।'

'तो क्या हमें इन्हींकी पूजा करनी चाहिए; इन्द्रकी पूजा छोड़ दी जाय ?'

'अवश्य। हम फल खायें आमका और सींचें बबूलको, यह कहाँका न्याय है ? हमें इस पूजनके संभारसे इस वनके देवता गिरिराज गोवर्धनका और गौओंका पूजन करना चाहिए।'

अच्छा, लाला ! तू जो कहता है, वह शास्त्रविरुद्ध तो नहीं होगा ?

'कदापि नहीं। जीविका चलानेवाली विद्याको वार्ता कहते हैं। उसके चार भेद हैं, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और कुसीद। वैश्योंके लिए ये ही आजीविकाके साधन हैं। इनमें भी गोरक्षाका महत्त्व सर्वाधिक है।'

'वाह रे लाला ! तू तो बिना पढ़े ही शास्त्रोंका पारंगत पण्डित हो गया है। अच्छा, तेरी रायसे अब व्रजमें गिरिराजजीकी ही पूजा होगी। इन्द्र-पूजा सर्वथा बंद।'

फिर तो धूम-धामसे गोवर्धन-पूजन सम्पन्न हुआ। समस्त व्रजवासियोंने बड़े उत्साहसे इसमें भाग लिया। गौओंका श्रृङ्गार करके उन्हें हरी-हरी घासें खिलायी गयीं। वेदज्ञ ब्राह्मणोंने वैदिक विधिसे पूजा-होम आदि कर्म करवाये। ब्राह्मणोंको भोजन दक्षिणासे संतुष्ट किया गया। गोप-गोपियोंने साष्टांग दंडवत् किया। गिरिराजने प्रत्यक्ष प्रकट होकर नैवेद्य-भोग ग्रहण किये। भगवान्का प्रसाद पाकर कन्हैयाके गुण गाते हुए समस्त व्रजवासी गौओंके साथ अपने-अपने घर आ गये।

(२)

'यह अभूतपूर्व तिरस्कार ! त्रिभुवनसम्राट देवेन्द्रके लिए असह्य है !' वज्रपाणि अधिक उत्तेजित थे।

'ये वनवासी गोप धनके मदसे इतने उन्मत्त हो उठे कि त्रिलोकीके अधिराजकी अव-हेलना कर दी ! और वह भी एक मरणधर्मा बालकके कहने से ? उदण्डताकी पराकाष्ठा हो गयी ! उस वाचाल, पण्डितमानी, उदण्ड और मूर्ख मानव-बालकका आश्रय ले नन्दव्रजके गोपोंने मेरा महान् अप्रिय किया है। आज इनके धनका घमंड चूर-चूर कर दो, इनकी अकड़ मिटा दो, इनके पशुओंका नाश कर डालो और नन्दव्रजको बहाकर रसातलमें डुबो दो। एक बार पुनः प्रलयका भयंकर दृश्य उपस्थित कर दो इस व्रजमण्डलमें।'

यह आदेश देकर इन्द्रने सांवर्तक (प्रलयंकर) मेघोंको बन्धनमुक्त कर दिया। फिर क्या था, होने लगी मूसलाधार वृष्टि। बिजलीकी कौंध, मेघोंकी गर्जना, घोर गड़गड़ाहट और भीषण वज्रपातका तांता बँध गया। पानीके साथ-साथ बड़े-बड़े ओले-पत्थर पड़ने लगे। वसुधापर जलाहल छा गया। सब ओर जल ही जल। नीची ऊँची भूमिका पता नहीं। यमुनाजीमें समुद्रका-सा ज्वार उठने लगा। भारी वर्षाके साथ प्रचण्ड वायु। पशु-काँपने लगे। सीमातीत सर्दीसे गोप-गोपीगणोंके हाड़ हिल उठे। कितने साँड़, गाय और बछड़े वारिवेगसे बह चले।

इस विपत्तिमें आर्तत्राण-परायण भगवान्के सिवा दूसरा कौन सहारा दे। समस्त व्रजमण्डलके लोग त्राहि-त्राहि करते हुए श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी शरणमें गये। भगवान्ने भी

इन्द्रका मान भंग करनेके लिए एक युक्ति ढूँढ़ निकाली और वोले 'भगवान् गिरिराज हमारी रक्षा करेंगे ।' ऐसा कहकर उन्होंने उस वृहदाकार विपुल विस्तारवाले पर्वतको एक ही हाथसे छत्रकी भाँति ऊपर उठा लिया और समस्त व्रजवासियोंको उसके गर्तमें सावकाश निवास प्रदान किया । उधर दावानल पान करके प्यासे हुए भगवान् अव्यक्त रूपसे वर्षाका सारा जल पीते चले गये । कुछ गोपोंको भय हुआ, कहीं यह पर्वत हाथसे छूटकर गिरा तो हमारी क्या गति होगी ? अन्तर्यामीने उनकी चिन्ता जानकर उच्च स्वरसे कहा—'डरो मत, मेरे हाथसे यह पर्वत कभी गिरनेवाला नहीं है । यहाँ न आँधीका डर है न वर्षाका भय । इन सव उपद्रवोंसे रक्षाकी व्यवस्था मैंने कर दी है ।'

सखाओंसे नहीं रहा गया, उन्होंने लाठियाँ टेक दीं—'कुछ तो कन्हैयाके ऊपरका भार कम हो ।' गोपियाँ कातर हृदयसे उनकी ओर देखने लगीं—ओह ! प्यारे श्यामसुन्दरपर इतना बोझ ! ये ग्वाल कैसे हैं, जो हाथका सहारा तक नहीं देते । वृषभानुनन्दिनी राधाके नेत्रोंसे अश्रुवर्षा होने लगी । वे स्वयं हाथका सहारा देने पास आ गयीं । किन्तु कन्हैयाने मुसकराकर रोक दिया और कहा—'तुम्हीं तो मेरी शक्ति हो, यह पर्वत तुम्हारे ही बलसे, अनुग्रहसे रुका हुआ है; अन्यथा राधाके विना यह आधा कृष्ण क्या कर सकता था ?' किशोरीने अपने अन्तरका सारा अनुराग उड़ेलकर कन्हैयाकी बाहें सहलायीं । एक सप्ताह तक यही स्थिति रही ।

अन्ततोगत्वा इन्द्रका मान भंग हुआ । श्रीकृष्णका अद्भुत प्रभाव देखकर वे चकित थे । उनकी सारी अकड़ हवा हो गयी । मन-की-मनमें ही रह गयी । वे कुछ कर न सके । निराश होकर उन्होंने मेघोंको रोक दिया । वादल फट गये, छँट गये, हट गये । स्वच्छ आकाशमें आदित्यकी प्रभा उद्दीप्त हो उठी । आँधी-पानीके साथ सारा उपद्रव शान्त हो चुका था ।

अव गिरिधर गोपालने सवको वाहर निकलनेका आदेश किया । वाहर आने पर सवने शान्त वातावरण पाया—मानो कुछ हुआ ही न हो । श्रीकृष्णने गिरिराजको पूर्ववत् स्थापित कर दिया । इतनेमें ही मैया यशोदा और रोहिणीने आकर उन्हें अंकमें भर लिया और उनके कपोलोंपर स्नेहका चुम्वन अंकित कर दिया । नन्द आदि गोपवृद्ध भी कन्हैयाका मस्तक सूँघकर उसे आशीर्वाद देने लगे । दाऊ मिले, ग्वालवाल मिले और अन्तमें कृष्णवल्लभा गोपियाँ मिलीं । श्यामसुन्दरने उन सवको हृदयसे लगाकर आनन्दित किया और श्रीवृषभानुनन्दिनीके साथ गिरि-शिखरपर घूम-घूमकर उनका सर्वतोभावेन मनोरञ्जन किया ।

इतने ही में श्वेत ऐरावतपर आरूढ़ देवराज वहाँ पधारे । उनके साथ सुरभी देवी भी थीं । देवेन्द्रने स्तवन करके अपराधके लिए क्षमा माँगी और सुरभी ने दिव्य जलसे अभिषेक करके भगवान् श्रीकृष्णको गौओंके इन्द्र—गोविन्द-पदपर प्रतिष्ठित किया ।

फिर सव अदृश्य हो गये । गोप-गोपियोंने अपनी आँखों यह सव देखकर वड़ा आश्चर्य माना । श्रीकृष्णके प्रति उनका हार्दिक अनुराग प्रतिक्षण वढ़ने लगा ।

शरणागति निःश्रेयस प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट साधन है—

शरणागतिका वैशिष्ट्य

आचार्य श्रीरामनारायण त्रिपाठी



जगत्का प्रत्येक व्यक्ति कीर्ति, वित्त तथा पुत्रदारादि सकल पदार्थों एवं निखिल भोगोंकी उपलब्धिके अनन्तर भी पूर्णतः मानसिक शान्तिके अभावका अनुभव करता परिलक्षित होता है। इससे सिद्ध है कि उस पूर्ण शान्तिके लिए सांसारिक सम्पूर्ण सुखसम्पत्ति साधन नहीं है, अपितु इससे भिन्न कोई और ही साधन है, जिसका प्रतिपादन वेद, शास्त्र और पुराणादिमें किया गया है। वह साधन है—ज्ञान, कर्म और उपासना, जिनके स्वरूप, साधन-विधि और अधिकारी भिन्न-भिन्न होते हुए भी उन तीनोंका लक्ष्य एक है। वैदिक कालसे अवाध चली आ रही ज्ञान, कर्म और उपासनाकी त्रिवेणीको भगवान् कृष्णने तापत्रयसे सन्तप्त प्राणियोंको शान्ति देनेके लिए गीतारूपी प्रयागमें प्रकट किया है। ये तीनों साधन स्वतन्त्ररूपसे अथवा अङ्ग-अङ्गीरूपसे शान्तिप्रद हैं? इस प्रश्नको लेकर आचार्योंके विभिन्न मत हैं। वे सभी मत देश, काल, पात्र और परिस्थितिके अनुसार प्रशस्त तथा आदरणीय हैं; क्योंकि चरम लक्ष्य तक पहुँचनेके लिए ये सभी विभिन्न सोपानका काम देते हैं। इनमेंसे किसी एकका चुनाव अपनी रुचि पर आधारित है—**'प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च। रुचीनां वैचित्र्यात्'**।

परन्तु यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि इन तीनों साधनोंमें उपासना सरल, सरस तथा सुलभ है। इसकी सरसतासे आकृष्ट होकर बड़े-बड़े ज्ञानी, योगी और कर्मानुयायी भी इस मार्गका आश्रय ले जीवन्मुक्तावस्थामें सहज स्वाभाविक रसानुभूति करते हैं। अन्य सबकी अपेक्षा इसकी उपादेयता व्यापक है, क्योंकि समस्त मानव उपासनाके अधिकारी हैं, और इसके लिए विशेष उपकरणोंकी आवश्यकता नहीं है। उपासनाकी ही पराकाष्ठा शरणागति है, जिसमें ही श्रीमद्भगवद्गीताका तात्पर्य निहित है।

यद्यपि गीतामें **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** आदिके द्वारा कर्म-निष्ठाका, **'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** इत्यादिके द्वारा ज्ञाननिष्ठाका और **'भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन'** आदि वचनों द्वारा भक्तिनिष्ठाका पूर्ण रूपसे प्रतिपादन किया है; तथापि **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** इस उपक्रम-वाक्यसे और **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।' 'मामेकं शरणं व्रज'** इस उपसंहार-वाक्यसे भगवत्-शरणा-गतिमें ही भगवान् श्रीकृष्णकी गीताका तात्पर्य निश्चित है, ऐसा प्रतीत हो रहा है।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इन नौ प्रकारकी भक्तियोंमें जो आत्मनिवेदन पदसे प्रतिपाद्य भक्ति है, वह अन्य प्रकारकी भक्तियोंसे साध्य होती है और फल तथा स्वरूपमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसीलिये मोक्षके साधन बताते समय भक्तिसे पृथक् शरणागतिकी गणना की गयी है—

भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामुने।
प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो मम कैङ्कर्यलिप्सुभिः॥

भक्ति प्रारब्धसे अतिरिक्त सञ्चित और क्रियमाण पापोंका विनाश करती है, किन्तु शरणागति प्रारब्धका भी नाश करनेमें समर्थ है—

उपायभक्तिः प्रारब्धव्यतिरिक्ताघनाशिनी।
साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी॥

यह शरणागति केवल भक्तिसे ही श्रेष्ठ नहीं है, अपितु स्वेतर सभी निष्ठाओंकी अपेक्षा प्रधान है। ज्ञान, कर्म और उपासना (भक्ति) सापेक्ष साधन हैं; किन्तु शरणागति निरपेक्ष साधन है। अतः अन्य साधनोंकी अपेक्षा यह सरल है।

कर्मयोग कर्मकी ओर संकेत करता है और इसका उद्देश्य ज्ञानयोगकी ओर ले जाना है, तथा ज्ञानयोगका मार्ग अपने उद्देश्यकी सिद्धि तभी करता है, जब अपना अस्तित्व भक्तियोगमें परिणत कर देता है। भक्तियोगका परम उत्कर्ष आत्मसमर्पणकी भावना अर्थात् प्रपत्तिमें है, जिसे परमभक्तियोग कहते हैं। शरणागति अंगी तथा भक्ति, कर्म और ज्ञान उसके अंग हैं। शरणागति परमेश्वरकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन है। वह आत्मसमर्पणकी सच्ची भावना है, जो ईश्वरके प्रति अनन्य निष्ठाका सूचक है। जो कर्म, सांख्य तथा योग तीनों उपायोंमें असमर्थ हैं, उनके लिए भी यह चतुर्थ उपाय सुगम है। इसीको निक्षेप, न्यास, न्यसन, संन्यास, त्याग, प्रपत्ति प्रपदन और आत्मनिवेदन आदि शब्दोंसे कहा गया है[1]

शरणागतिकी भावनाका ही सूचक न्यास उपनिषत्-प्रतिपादित एक ब्रह्मविद्या है। उपनिषदोंमें जहाँ ब्रह्म, जीव, प्रकृति तथा उनके परस्पर सम्बन्ध आदिका विचार है, वहीं ब्रह्मानुभवकी साधनभूत ३२ ब्रह्मविद्याओंका भी वर्णन है, जिनका अभ्यास मुमुक्षु साधकोंके लिए कर्तव्य कहा गया है। इन विद्याओंको उपासना भी कहते हैं। न्यास इन्हींमें से एक ब्रह्मविद्या है।

शरणागतिका स्वरूप—

श्री भगवान्के प्रति गाढानुराग रखते हुए आत्मसमर्पण करना अर्थात् अपनेको, अपनी रक्षाके भारको और रक्षणके फलको प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देना ही शरणागति है।

---

१. निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः।
संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि॥ (ल० तं० १७।७५)
"व्यक्त्यैक्याच्छरणागतिप्रपदनत्यागात्मनिक्षेपण
न्यासाद्येषु तथैव तन्त्रनिपुणैः पर्यायता स्मर्यते" (न्या० ति० १६।२)

मैं तथा मेरे समस्त चेतन और अचेतन पदार्थ वस्तुतः श्रीभगवान्के हैं मेरे नहीं हैं, इस भावनासे स्वरूपसमर्पण, फलसमर्पण, और भरसमर्पणका ही नाम न्यास है :—

अहं मद्रक्षणभरो मद्रक्षणफलं तथा।
न मम श्रीपतेरेवेत्यात्मानं निक्षिपेद् बुधः॥ न्या० द० १

अहिर्बुध्न्यसंहिताके अनुसार 'मैं अपराधोंका घर हूँ, अकिंचन हूँ, अगति (अन्य अवलम्बोंसे रहित) हूँ, तुम्ही मेरे उपाय हो, ऐसी प्रार्थना-बुद्धिको शरणागति कहते हैं।[1]

लक्ष्मीतन्त्रमें भी—रक्षा और फलको भगवान्के हाथमें सौंप देना ही 'शरणागति' कहा गया है[2]—

कर्मयोगका ज्ञानयोगमें तथा ज्ञानयोगका भक्तियोगमें समन्वय हो जाता है। भक्ति-योग आत्मसमर्पणमें परिणत होता है, यही प्रपत्ति (शरणागति) है। (निक्षेपरक्षा पृ० ४०)

शरणागतिका वैशिष्ट्य—

मोक्षके चारो साधनोंमें सर्वत्याग या सर्वस्व-अर्पण परम एवं चरम कोटिका साधन है। वही शरणागति या प्रपत्ति है।[3]

कर्म, ज्ञान, और भक्तिका अनुष्ठान वारंवार या निरन्तर करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा ही शास्त्रोंका आदेश है।[4]

किन्तु शरणागतिको एक ही वार करनेका विधान है। एक वार शरणागति ग्रहण करनेसे ही प्राणी इस संसारसागरको पार कर जाता है। वाल्मीकीय रामायणमें श्रीराम-चन्द्रजीने एक ही वार शरणागति ग्रहण करनेपर अभयदान देनेकी प्रतिज्ञा की है :—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ (यु० कां० ८।३४)

इसी प्रकार सनत्कुमारसंहितामें भी कहा है कि इसे एक बार ग्रहण करनेपर संसारसे मुक्ति मिल जाती है। यथा—

---

१. अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः॥
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥३७।३०

२. तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्य-वियुक्तता।
केशवार्पणपर्यन्तं ह्यात्मनिक्षेप उच्यते॥१७।७४

३. उपायास्ते च चत्वारो मम प्रीतिविवर्धनाः.........
स्वजातिविहितं कर्म सांख्ययोगौ तथैव च।
सर्वत्यागश्च विद्वद्भिरुपायाः कथिता इमे॥

४. 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः',
'अभ्यासात् पक्वविज्ञानो कैवल्यं लभते नरः'।

सकृदुच्चारिता येन तस्य संसारनाशिनी।

(प्रपन्नपारिजात पृ० १९ में उद्धृत)

लक्ष्मीतन्त्रमें भी इसीका अनुमोदन या समर्थन है।

सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयं तारयेन्नरम्, (ल० तं० १७)

इस प्रकार एक वार शरण ग्रहण करनेके अनन्तर यदि कोई अपाय (विघ्न) हो जाय, तो पुनः शरणागतिका विधान भी प्रायश्चित्त रूपमें किया गया है। प्रायश्चित्तस्वरूप दूसरा उपाय श्रीलक्ष्मीजीकी शरणागति भी है।

श्रीलक्ष्मीजी भगवान्से शरणागतको क्षमा प्रदान करके पुनः शरणमें लेनेका आग्रह करती हैं। पुनः शरणागतिका विधान प्रायश्चित्तरूपमें ही है; अतः कर्तव्यके रूपमें वह एक ही वार विहित है।

मोक्षदायिनी शरणागति—

शरणागति मोक्षका अन्तिम तथा सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। शरणागत पुरुष शरण्य प्रभुसे समस्त ऐहिक तथा आमुष्मिक सभी फलोंको प्राप्त करता है।

अहिर्बुध्न्यसंहितामें कहा गया है कि 'जो व्यक्ति इस न्यासमार्गका अनुसरण करता है, वह इहलोक तथा परलोकमें भी सुखी रहता है' :—

वाह्येन चान्तरेणापि योगाख्येन महामुने।
न्यासेन वा सुखी सोऽत्र परत्र च न संशयः॥ (३७ अ०)

पुनरावर्तनरहित परमधाम तथा पुरुषोत्तमकी प्राप्तिका यही एकमात्र साधन है।[1]

लक्ष्मीतन्त्रमें भी शरणागतिके द्वारा मोक्षप्राप्तिका वर्णन है।

'न्यास' ग्रहण कर लेनेपर अन्य किसी साधनको अपनानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती है, क्योंकि इसीके द्वारा सब कुछ सिद्ध हो जाता है—

'कृतान्यनेन सर्वाणि तपांसि तपतां वर' (अ० सं० ३७।३४)

अतः न्यास या प्रपत्ति समस्त मोक्ष-साधनों और तपस्याओंमें सर्वश्रेष्ठ है। जैसा कि अहिर्बुध्न्यसंहिता (३७।३६) में कहा गया है—

यानि निःश्रेयसार्थानि चोदितानि तपांसि वै।
तेषां तु तपसां न्यासमतिरिक्तं तपः श्रुतम्॥

१. प्राप्यते परमं धाम यतो नावर्तते पुनः।
तेन तेनाप्यते तत्तन्न्यासेनैव महामुने॥
परमात्मा च तेनैव साध्यते पुरुषोत्तमः। (अ० सं० ३६।२६)

पंकज-दूत ☆ श्रीयमुनाप्रसाद चतुर्वेदी 'प्रीतम'

जबते मथुरा गए स्याम व्रज बनितन तजि कें,
व्याकुल मन कों मारि रहीं तबते गृह लजि कें।
मन अधीर जब होइ कबौं तब चैन परै ना,
ज्यों सदीन ह्वै मीन नीर बिन धीर धरै ना ॥

पथिकन पेंछट पाइ झपट द्वारन पै झाँकें,
विन नँद-नंद निहार हाइ मुख ते तब भाँखें।
कबहूँ चक-वक दौरि चढ़त छत छज्जेन ऊपर,
कबहूँ कर संतोस उठत पुनि-पुनि गिर भूपर ॥

ज्यों चकोर चहुँ ओर चकित ह्वै चितवत चन्दै,
चुनि-चुनि चिनगि चबात चंद बिन बिसर अनन्दैं।
कवहूँ जमुना जात लखत तव सूनी कुंजन,
होत जु बाल बिहाल ग्रीष्म बिबरन जिमि खंजन ॥

अलि-रव सुनि मन समुझ मुरलि धुन कबहूँ धामें,
पुनि अलि-गुंजन जान सीस धुन-धुन पछितामें।
विहरत सबिरत सकल बिकल जुत असक्कत हत है,
जिमि बिपंचि धुनि सुनत कुरँग उर बिसिख सहत है ॥

कबहू बैठि इकंत करत हैं सिगरी बातें,
सखि निरमोही कान करी हम सँग बढ़ घातें।
निठुर निपट निरदई गए तज मधुपुर ह्याँ तें,
हम इत दुख में हाइ बितावत दिन औ रातें ॥

अब हम जानीं साँच होत सब कपटी कारे,
पय-प्यावत हू बिस उगलत हैं फनि मनि बारे।
भ्रमर कलिन रस लेत होत नीरस तज भाजै,
बिरहिन हियौ तचाइ असित घन गृह-गृह गाजै ॥

यों चरचा कर रहत दुखित तन सुधि-बुधि भूलें,
हूलें हिय में उठत सूल सम लागत फूलें।
जदपि वियोग बिसाद होत नित प्रति अति भारी,
तदपि एक दिन भई बिरह की दसा अपारी॥

तव कुदसा अविलोक सोक तज ललिता बोली,
वहुत बरी बिरहागि हियें हमरे अब तोली।
किंतु बिकल ह्वै अधिक राधिका देह दहत है,
अबै दसा है नवम दसम अव होंन चहत है॥

करि बिबिध जतन तब सखिन धीर उर धारी,
चालीं उत जित छिति छुभित परी पिय-प्यारी।
को कोविद बरनन करै सखिन जो देखी,
हिय वढ़ी बिथित बिरहागि बियोग बिसेखी।

ढ़िग खड़ों सखी ना लखीं न सुधि तन-मन की,
विन व्रज-पति तज-मति भई बिकांति बदन की।
पल-कल न लहत तन बिकल छिनों-छिन बिचकत,
जनु असक्रत उर विच किरिच कचक अति कसकत॥

निज कर-तल ऊपर कबों गिरत अध-मुख कर,
मनु पंकज अंक मयंक बिठावत सुख कर।
सिर बसन कबों कटि-निकट उघरि कर आवत,
मनु मरीचि-प्रिय-बिधु बिसर बिबस हरि ध्यावत॥

दुहुँ दृगन मूँदि रहि कबों मौन गहि बानी,
मनु मन-बिराग में मगन महा मतिमानी।
कवहूँ लोयन कर अपल जु इक-टक जोबत,
मनु बिधु मधि पंकज पाँख बीच अलि सोबत॥

कबहूँ है नैंन अधीर नीर तन ढारत,
मनु सुक्तिज भक्ति सजुक्त सीस सिव धारत।
जे बिबिध विरह बस दसा कबिन जग भाखीं,
ते सब प्रिय-हिय-पिय बिथा बिबस बस राखीं॥

●

श्रीकृष्णके बालचरितकी ओर भावुकोंका आकर्षण

ऐसा था व्रजके कन्हैयाका बालपन

डॉ० श्रीजयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल

विगत सात सितम्बरको एक जयन्तीमें मथुरा जाना हुआ, वहाँ समारोहमें नजीर अकबराबादीकी एक गजल कोरसके रूपमें प्रस्तुत की गयी—गजलका सिरा था 'ऐसा था व्रजके कन्हैयाका बालपन।' व्रजके कन्हैयाके बालपनपर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही वर्गके कवियोंकी रीझ अनूठी रही है। रसखानको तो उसकी लकुटी और कामरियाके समक्ष तीनों लोकोंका राज्य भी तुच्छ लगता है। भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओंका रस जिसकी जबान-पर आ गया, फिर उसे दूसरा कुछ नहीं रुचता। महाकवि सूरदासने तो कृष्णकी बाल-लीलाओंका अपने चर्मचक्षुओंको बंद करके मानस-चक्षुओंसे साक्षात्कार किया और फिर कृष्णकी बाल-माधुरीके रसमें संसारके सहृदयोंको मग्न कर दिया। सूरदासने कृष्णकी बाल-लीलाओंका बड़ा रमकर वर्णन किया है। उनकी सूक्ष्म क्रिया-प्रतिक्रियाका जैसा चित्र सूरदासने खींचा है, वह मनोहारी एवं अत्यन्त सजीव है। फिर भी शताधिक ऐसे छोटे-मोटे कवि हुए हैं, जिन्होंने कृष्णके बालपनका बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है, किन्तु सूरदासके महान् गौरवके सम्मुख उनका यश छिप गया। आगराके मुसलमान कवि नजीर अकबराबादी भी उस कन्हैयाके बालपनपर बेतरह रीझे हुए थे और संसारके लोगोंसे कह उठे कि 'यारो! यदि उसका बालपन नहीं देखा तो संसारमें क्या देखा'।

श्रीकृष्णकी बाललीलाएँ विश्वके मानव मात्रको अत्यधिक प्रभावित करनेवाली हैं। इसका एक प्रमाण हैं एक रूसी महिला, जो सूरसागरका रूसी भाषामें अनुवाद कर रही हैं। वे भारत आयीं, सूरसागरका अध्ययन किया, कृष्णकी बाललीलाओंको पढ़कर मग्न हो गयीं और व्रजकी उस भूमिमें विचरीं जहाँ कभी कन्हैया विचरण करता था—भावमग्न, भावविभोर—ये व्रजरज हैं जिसमें वह कन्हैया लोटता था। इस पवित्र व्रजरजसे किसका हृदय पवित्र न हो उठेगा। रूसी महिला तो आत्मविभोर हो गयीं, भारतसे विदाईके समय रोने लगी।

व्रजभूमिकी महिमा न्यारी है। वहाँ श्रीकृष्णने बाललीलाएँ करके युगान्तर उपस्थित कर दिया। श्रीकृष्णके जीवनके विविध पक्षोंमें कवियोंको उनकी बाललीलाएँ ही मनको अधिक भायी हैं। सूरदाससे नजीर अकबरावादी तक कवियों की एक बहुत बड़ी परम्परा रही है जिसने नयी सूझ-बूझ एवं शैली और तरन्नुममें कन्हैयाके बालपनका आत्मविभोर होकर वर्णन किया, गायन किया, अपने जीवनको धन्य किया। कन्हैयाकी विविध बललीलाओंमें जो रस है उसके सामने तीनों लोकोंमें कोई रस नहीं है। वह अनुपम रस है जो भक्तके हृदयको भावविभोर कर देता है। भक्तका हृदय उस रसमें डूबकर फिर अन्य रसमें डुबकी नहीं लगाता। रसखान जैसे कृष्णभक्त मुसलमान कवियोंकी रीझ देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि कन्हैयाका बालपन सर्वजनीन था। ●

हृदय और मस्तिष्क दोनोंमें समन्वय स्थापित हो—

हृदयवाद और बुद्धिवाद

श्रीबाबूलाल 'श्रीमयङ्क'



वर्तमान युगमें बुद्धिवादने सभी पर अपना साम्राज्य फैला रखा है। कोई भी क्षेत्र ले लें—क्या राजनीति क्या सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक आदि, सभीके हल केवल बुद्धिके आधारपर ही हम खोजते हैं। जो उनके हल खोजनेमें जितना माहिर होता है, वह उतना ही उस क्षेत्रका विद्वान् या विशेषज्ञ माना जाता है। सभी अपनी बुद्धिके मापदण्डसे प्रशंसनीय होते हैं। समाजमें उसी हिसाबसे उसका स्थान भी होता है।

तर्कने बुद्धिको विकसित किया। उसकी फसल नये सन्दर्भोंमें उगी है, अच्छी पनपी और लहलहा रही है। जहाँ उसने सही मार्ग दिखानेका प्रयास किया, वहाँ भ्रमको भी उत्पन्न किया। अच्छी फसलके साथ घास-पात और व्यर्थके पौधे भी उगना स्वाभाविक है।

प्रत्येक प्रश्नका हल केवल बुद्धिसे ही खोजा जाय यह कोई जरूरी नहीं है। किसी भी प्रश्नके हलमें बुद्धिकी सहायता मात्र ली जा सकती है, किन्तु यह निश्चित नहीं कि वह सही निष्कर्ष निकाले।

भौतिक और सामाजिक बुनियादी प्रश्नोंका हल बहुत कुछ बुद्धिपर ही निर्भर करता है। इसके साथ ही कुछ ऐसे भी पेंचीदे प्रश्न होते हैं, जहाँ बुद्धि-तर्क-कौशल कुंठित हो जाते हैं। फिर भी उसकी अनिवार्यता महसूस होती है और उसके बिना हमारा काम नहीं चलता।

जिन क्षेत्रोंमें बुद्धि दखल रखती है, उन्हीं क्षेत्रोंमें हृदय भी दखल रखता है, क्योंकि वह बुद्धिसे एक कदम आगे है।

कुछ ऐसी बातें भी होती हैं, जिनकी व्याख्या बुद्धि अच्छी तरहसे कर सकती है किन्तु व्यवहारमें नहीं लायी जा सकती। जैसे—विश्वास, सहानुभूति, सहिष्णुता, सहभागिता, नम्रता आदि।

यदि हम एकताकी बातको लें, तो वह उसकी लम्बी चौड़ी व्याख्या एवं दलीलें दे देगी। उसके व्यावहारिक तरीके खोज देगी फिर भी यह कहना असम्भव ही है कि बुद्धिका वह निर्णय ही समस्याका अन्तिम हल होगा।

इन्हीं संदर्भोंमें अनेक महापुरुषोंने अपने-अपने आधारपर प्रयत्न किये। वे तबतक ही सफल रहे, जब तक कि उनमें हृदयवादका पुट रहा या उनके अनुयायी इस आधारपर प्रयत्न करते रहे। जब नीरस बुद्धिवादका सहारा लिया गया तो वे टिक नहीं पाये।

आज विश्वका प्रत्येक देश इस दौड़में आगे आना चाहता है। इससे बहुत कुछ विकास भी हुआ, फिर भी मानना पड़ेगा कि जितनी शान्ति और आनन्दकी उत्पत्ति होनी चाहिए, वह नहीं हुई। तब आज भी बुद्धिवादियोंके समक्ष यह प्रश्न बना हुआ है कि 'शान्तिके उपाय क्या हों?'

एक विद्वान्‌ने ठीक कहा है—'बुद्धिमान भी दयालु, नम्र और उदार हृदयका हो, यह जरूरी नहीं।' बहुत-से दुष्ट प्रवृत्तियोंके भी होते हैं, जो युक्ति-कौशलसे एक दूसरेको लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। अधिकतर कूटनीतिज्ञ इसी श्रेणीमें आते हैं। अतः इस कथनसे स्पष्ट होता है कि अन्तिम रूपसे बुद्धि ही सब कुछ नहीं है।

हम पिछले पैरेमें कह आये हैं, कि बुद्धिसे भी एक कदम आगे है 'हृदय'। भारत और उसके ऋषियोंकी बहुत बड़ी देन हृदयवाद है। उन्होंने जो कुछ भी उन्नति की है—वह हृदयवाद और बुद्धिवादके समन्वयसे की है।

बौद्धिक उन्नति हृदयके अभावमें निरर्थक है। लोहियाजी और मार्क्सने समाजवादके सारे सिद्धान्त केवल बौद्धिक स्तर पर ही खोजनेके कारण सारा जीवन खपा दिया। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि उनके सिद्धान्तोंमें हृदयवादका भी किंचित पुट है, किन्तु अपनानेवालोंने उसे बिल्कुल ही छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि समस्या सुलझनेके बजाय उलझ गयी।

वर्तमानमें समाजवाद लाना एक बुनियादी प्रश्न बन गया है। हर मनुष्य अपनी दलीलोंसे इसका समर्थन करता है और आजकी बिगड़ी स्थितिपर दुःख भी प्रकट करता है, लेकिन वह केवल बुद्धिवादके आधारपर ही।

सच्ची समाजवादकी स्थिति सहभागितासे सम्भव है और वह हो सकती है—हृदयवादसे।

हृदयवादकी परिभाषा करते हुए महर्षि योगी श्री अरविन्दने कहा है—'वह चेतनाका एक ऐसा भावमय पक्ष है, जिसमें प्रत्येक प्राणीके प्रति सच्ची संवेदना, सहानुभूति और परस्पर सहभागिताका समावेश है तथा वह सभी द्वन्द्वोंसे परे है।'

आजकी स्थिति तो इससे कोसों दूर है।

'धर्म' जो हृदयवादकी मुख्य चीज है, जिसे लोहियाजी ने अच्छाईका रूप दिया है और बुद्धिका काम है उसे राजनीतिक स्तरपर अथवा अन्य किसी स्तरपर आगे बढ़ाना।

धर्मसे प्रसूत कर्त्तव्य, जिसका चयन बुद्धि करती है, उसे हृदयमें धारण करना सबसे बड़ा और मुख्य काम है। वह प्रत्येक क्षेत्रमें व्यावहारिकता प्रदान करना है।

गांधीजीने कहा है—'हृदय, बुद्धि और हाथ तीनोंके समन्वयमें ही समाजका हित है।' इसलिए जहाँ हृदयवाद और बुद्धिवादका समन्वय होगा वहाँ तीसरी वस्तु व्यावहारिकता भी खोजनी होगी। इनमेंसे एकको भी छोड़कर हम ठीक उन्नति नहीं कर सकते हैं।

हृदयवाद सदैव एक वर्गहीन समाजको कल्पना करता है। उसने कभी भूलकर भी असमानताका दावा नहीं किया है। असमानता, भेदभावकी नीति स्वार्थपूरित बुद्धिने निर्धारित की है। भारतीय ऋषि शुद्ध हृदयसे कहता है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः'। जैसा उसने कहा है, वैसा ही करके भी दिखाया है। ऐसे कई उदाहरण हमारे धर्मग्रन्थोंमें मिल सकते हैं।

आज जो केवल मनुष्यके लिए आदर्श भरी बातें रह गयी हैं, वे किसी जमानेमें प्रत्यक्ष हो गुजरी हैं। तब वह शुद्ध हृदयवादका युग रहा होगा। जिस समयसे दूषित बुद्धिवाद प्रारम्भ हुआ है, तबसे तर्क और भेदभावको प्रोत्साहन मिला। जिसका चरम युग आज है।

हृदयवादके युगमें बुद्धिकी भी प्रधानता रही है, किन्तु प्रथम स्थान हृदयका ही रहा है।

वस्तुतः समाजवादकी मूल कल्पना हृदयवादसे ही प्रारम्भ होती है। चाहे हम बुद्धिवादकी तीव्र बाढ़में इसको भूल जायँ, फिर भी इसके विना निरर्थक ही होगा। उसका सीधा तात्पर्य होगा—'एक वर्गहीन समाजकी कल्पना जो केवल अपने ही समान सबकी आवश्यकताओंकी सामग्री जुटानेमें तत्पर हो। एक-समान साझेदारी हो। कोई बुद्धिसे, कौशलसे एवं कार्यक्षमतासे छोटा न समझा जाय, वल्कि उसकी पूर्तिमें सहायक होकर, आगे वढ़ाकर उसे सक्षम बनानेका प्रयत्न किया जाय।'

यदि इसका निर्णय बुद्धि करेगी तो हृदयसे उन्हें अधिक आत्मीयतापूर्ण बनाकर सरस, सम्पन्न किया जायगा। हो सकता है इसके अभावमें बुद्धि अपने पथसे विचलित हो जाय, तव हृदय ही इसका अंकुश होगा। इसी हृदयवादको हम अध्यात्म इत्यादि नामसे कह सकते हैं। वह स्वतः नैतिक मर्यादामें बाँधता है और उसके पालनके लिए दवाव डालता है।

यदि बुद्धिवाद उसकी मर्यादाओंका उल्लंघन करके अपने ही तर्कोंसे समर्थित होगा तो पतन अवश्यंभावी है। उससे अशान्ति, अव्यवस्था और कलहकी भी वृद्धि होगी।

अतः उपर्युक्त तथ्योंको ध्यानमें रखते हुए दोनोंका समन्वय अनिवार्य है, जिसकी आज नितान्त आवश्यकता है।

●

आवश्यक सूचना

'श्रीकृष्ण-सन्देश'का प्रकाशन प्रायः प्रत्येक महीनेकी पहली तिथिको हो जाया करता है और वह एक सप्ताहके भीतर कृपालु ग्राहकों-अनुग्राहकोंकी सेवामें प्रेषित कर दिया जाता है। अतः यदि वह दूसरे सप्ताहतक न पहुँचे तो कृपालु ग्राहकों-अनुग्राहकोंको चाहिए कि वे अपने पोस्टआफिसको लिखें और उसकी प्रतिलिपि हमारे पास भी भेजनेका कष्ट उठावें, जिससे कि मार्गमें होनेवाली अंकोंकी चोरियोंके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही की जा सके।

व्यवस्थापक
'श्रीकृष्ण-सन्देश'
केशवदेव कटरा, मथुरा

श्रीकृष्णकी अनुभूति—

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

श्रीजयगोपाल मिश्र

★

भारतीय इतिहासके मर्मज्ञ विदेशी विद्वानोंने भी इस देशकी संस्कृतिको सनातन माना है। वे मुक्त कण्ठसे प्रसंशा करते हैं इस धरतीके सामवेदकी और उसी सामके अन्तर्गत हमारे गेय काव्यकी श्रुतिका विस्तार मिलता है। हम कई स्थल पर पढ़ते-पढ़ते सुनते-सुनते रुक जाते हैं, ठिठक जाते हैं, कारण सहज अनुभूतिको हम उस समय 'सिद्धि'की तराजूमें तौलने वैठ जाते हैं। किन्तु ऐसा होना नहीं चाहिए। प्रायः इस देशके विभिन्न सम्प्रदायोंसे सवको धर्मविषयक चमत्कारजनक त्वरा माननेके लिए विवश होना पड़ा है।

इसी चमत्कारके पीछे हम अदृष्ट-शक्तिका हाथ मानते हैं और समय-समयपर यही परमा शक्ति, काली दुर्गाके रूपमें अवतरित होकर शाक्तोंकी सम्वोधिनी बनी। कभी शैव मतानुयायियोंके लिए उनके कल्याणकारी शिवका चरित्र उपादेय वनता तो कभी वैष्णवोंके लिए 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति'की चरम सिद्धि प्राप्त हुई प्रतीत होती है।

किन्तु इस सव प्रेरणाके पीछे किसी प्रेरकका हाथ है और वे प्रेरक हैं हमारे सनातन-संस्कार जिनपर समय-समयपर आवरण मात्र आ गया प्रतीत होने लगता है।

इसी आवरणको हटानेके लिए, इसी पर्देका-पर्दाफाश करनेके लिए हमें गुरुकी आवश्यकता पड़ती है। कहना उचित ही होगा कि विना गुरुके भव-सागरको तरा नहीं जा सकता। जैसा कि गोस्वामीजीने लिखा है—

बिनु गुरु होय कि ज्ञान

इस गुरु-दीक्षाके लिए समय-समयपर महान् संतों, भगवद्भक्तों और महनीय महानुभावोंका प्रादुर्भाव होता रहता है। किन्तु जव धरामें विराट् परिवर्तन लाना होता है तो उस समय अवतार ही होता है। जैसा कि भगवान् कृष्णने गीतामें स्पष्ट किया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

इस इच्छा-अवतारकी कामना भगवान् स्वयं क्यों करते हैं? यह एक विचारणीय विषय है और इसी महान् संकल्पके स्रष्टाका नाम हम "कृष्ण" 'कर्षति इति कृष्णः'के रूपमें स्मरण करते हैं।

वन्दना हमारे आकुल कुलकी परम्परा है। जब भी मानव अतिमानवतासे या आधिभौतिकतासे तंग होगा, वह कराह उठेगा। उसका रूप रोना हो सकता है, गाना हो सकता है।

किन्तु हम अकस्मात् निःसृतिको "वन्दना"की संज्ञा देते हैं जो देश, काल, समयके अनुसार कभी भी वंद नहीं होती, वंद की भी नहीं जा सकती।

जगद्‌गुरुकी प्रतिष्ठा वही अधिष्ठाता प्राप्त करता है, कर सकता है, जिसमें नयनकी शक्ति हो, जो अपने युगका नेता हो, उस नेताको राजनैतिक गुणधर्मसे अधिक आध्यात्मिक ख्याति मिलनी चाहिए और उसकी यह खूवी रही है कि वह निरस्त्र रहकर भी आततायियोंका दमनकारक रहा है।

इन सब कसौटियोंके उपरान्त उस महान् सत्त्वमें ऐसे कठोर न्यास विराजते हों जो सर्वसाधारणसे उसे भिन्न किये रहें? यह सब मिला-जुलाकर संयमकी परिधिको पार कराते हैं और वह अपरिमित शक्ति कृष्णके नामसे जानी जाती है।

कृष्णोपासक कोई दलील नहीं देते कि कृष्णकी कैसे पूजा—अर्चनाकी जाय, प्रत्युत कृष्णकी **गीता** कृष्णके भक्तोंसे वही नाच नचवाती है जो असहाय अर्जुनने समराङ्गणमें किया था।

एक ओर अथाह **मोह** दूसरी ओर अपार **ग्लानि** तीसरी ओर **नैराश्य**, तभी एक शब्द गीताका प्रलय करता है—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

इस '**उत्तिष्ठत**'को '**वरान्निबोधत**' तक ले जाने वाली शक्तिका नाम **कृष्ण** है।

कृष्ण मथुरामें हैं, कंसको मारा है, जरासंधको पछारा है, पाण्डवोंकी रक्षा की है। दुर्योधनकी मदद की है, वुद्धिमानको वुद्धि दी है, कुवुद्धिको अवसर दिया है कि सँभल जाय। किन्तु वे कहीं भी किन्हीं गुणोंसे प्रभावित नहीं होते। ऐसे "पद्मपत्रमिवाम्भसा" वाली शक्तिको हम कृष्णके रूपमें मानते हैं।

जो युग-वोध दे सके। जो त्राण वनकर उपस्थित हो सके। जो समस्याओंका समाधान वन जाय, उसीका नाम कृष्ण है।

'कृष्ण-काव्य'में कृष्ण-महिमाको अनेक रूपोंमें गाया गया है, किन्तु जन-साधारणके लिए एक ही रूप वड़ा सहारा है कि कृष्ण लाज वचानेवाले की लाज हैं।

नारियोंको पाञ्चालीकी लाजसे, चरोंको गजेन्द्रमोक्षसे और अचरोंको सचराचरीय संज्ञा प्राप्त होनेसे कृष्णमें प्रतिभास होने लगता है अपनी रक्षाके निमित्त उनकी स्मरणीयताका।

स्मरण तो स्फुरणका प्रादुर्भाव है और जव जिस भावसे हम उनका स्मरण करते हैं, तव वे उसी भावमें हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं।

आज भी व्रजके गाँवोंमें, कुंजोंमें, करील-वनोंमें हम कृष्णकी स्पष्ट अनुभूति पाते हैं। प्रतिवर्ष सावनमें 'व्रज-परिक्रमा' इसी चमत्कारका द्योतक है।

'कृष्णधाम' मथुराने कृष्ण-चरितके लिए स्तुत्य कदम उठाये हैं और इसमें सन्देह नहीं कि इस स्रोतस्विनीसे युगका मंगल होगा।

समय स्वाधीन है। वह किसी भी क्रममें अपने पुराने इतिहासको दुहराता है और इस आधुनिक महाभारतके लिए अव हमें कृष्णावतारकी कामना है। ●

मीराके श्रीकृष्ण-प्रेमकी दिव्यताका दिग्दर्शन—

कृष्ण-साधिका मीरा

श्रीहरिशङ्कर पाण्डेय

वालिका मीराने जब अपने वावासे कृष्णकी मूर्तिके वारेमें जिज्ञासा व्यक्त की तो उन्होंने व्यंग्यसे टालते हुए उसे वताया कि 'यही (कृष्णकी मूर्ति ही) तुम्हारे पति हैं।' फिर क्या था मीराने पतिसेवाकी भूमिका निभाना प्रारम्भ कर दिया। पति ही पत्नीका सर्वस्व हैं, इस उद्देश्यकी पूर्ति हेतु उसने मूर्तिकी तन, मन, धनसे सेवा करना प्रारम्भ कर दिया। उसे उस सेवामें ऐसा मिठास मिलने लगा जो कि गूँगेके लिए मिठाईकी भाँति वर्णनसे पूर्णतः परे है।

कालांतरमें सांसारिक मायामें लिप्त करनेके लिए मीराका विवाह भी कर दिया गया। पर मीराको उस विवाहसे आनन्द कहाँ! दिल तो एक है और वह भी कृष्ण-प्रेममें रम चुका है, फिर दूसरेको दिल कहाँसे लाकर दे। पतिके अनेक वार समझानेपर भी मीरा अपने मार्गपर अडिग रही। स्वाभाविक है कि मीराके पति भोजराज उसे सांसारिक मोहमें लिप्त करना चाहते थे। पर भक्तिरसमें डूबी हुई मीराके लिए उनका प्रस्ताव गंगा-स्नान करती धार्मिक वुढ़ियाको शराव पीनेका ही प्रस्ताव है। वह बरावर इन्कार करती रही। गुस्सेमें आकर भोजराज कहता—'क्या मैं तुम्हारा पति नहीं हूँ?' पर मीराका एकमात्र उत्तर यही रहता—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।' दैवात् पतिका भी निधन हो गया। अव तो मीरा पूर्णतः स्वतंत्र थी। वह घरसे वाहर आयी तथा साधु-संतोंके कीर्तनमें विना घूँघटके सम्मिलित हुई। इसे उसके सौतेले देवर राणा विक्रमने मर्यादाके विरुद्ध समझकर उसे काफी त्रास दिया, पर वह अपने मार्गपर दृढ़ रही। जहरका प्याला पिया, अनेक कष्ट सहे, पर कृष्ण-भक्ति न छोड़ी। इतना ही नहीं, उसने राजकुलके रूढ़िग्रस्त जीवनको भी चुनौती दी—

चोरी करूँ न मारणी, नहिं मैं करूँ अकाज।
पुन्न के मारग चालतां, झक मारो संसार॥

'झक मारो संसार' कहकर मीरा सांसारिक स्तरसे ऊपर उठ जाती हैं और क्रान्तिके उस स्वरूपका दर्शन करती है, जो उस युगके लिए, उस नारीके लिए जो राजकुलसे संबन्धित है, बड़े आश्चर्यकी बात है।

जिस मीराका जन्म कृष्ण-भक्तिके लिए ही हुआ हो वह सर्वसाधारण स्त्रियोंकी भाँति इस नश्वर सांसारिकतामें कैसे फँसती। हमारे धर्मशास्त्रोंके अनुसार वैराग्य और ईशवन्दनाके ही द्वारा व्यक्ति आवागमनके वन्धनसे मुक्त हो सकता है, फिर मीरा इस स्वर्ण अवसरको कैसे हाथसे जाने देती। ईश्वरको प्राप्त करनेके लिए सभी उपकरणोंका प्रयोग किया जाना चाहिए, चाहे वे सामाजिक परम्पराओंके अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल, ऐसा हमारे

धर्मशास्त्रका विचार है। ईसामसीह ने अविवाहित मरियमकी कोखसे जन्म लिया, किन्तु वे ईसाई-धर्मके प्रवर्तक माने गये। बात यह ठीक है, किन्तु तथ्य यह है कि—सामाजिक मान्यताओंके अनुकूल नहीं। हजरत मुहम्मद तथा गुरु गोविन्दसिंहके एकसे अधिक विवाह हुए, पर वे भी क्षम्य ही थे। राधा और श्रीकृष्णका पारस्परिक दिव्य अनुराग हमारे समाजमें एक विशिष्ट स्थान रखता है। मीराका श्रीकृष्णके लिए प्रेम भी इसी कोटिमें रख सकते हैं।

मीरा एवं श्रीकृष्णका प्रेम शारीरिक एवं कामुक नहीं, अपितु आध्यात्मिक था। श्रीकृष्ण मीराके चेतनताके नायक एवं इष्टदेव थे। वह कृष्णसे प्रेम करती थी—अपने भीतरके आत्म-ज्ञानकी रिक्तताकी पूर्ति हेतु। इसके लिए उसने मृत्युपर भी विजय प्राप्त की। सामाजिक बन्धनोंकी जंजीरोंको तोड़कर उसे बाहर निकलना था, तभी इस आत्मज्ञानकी प्राप्ति संभव थी। मीरा ने तो इस नश्वर संसारमें आकर उस सम्पदाको अर्जित किया, जिसे न तो चोर ही चुरा सकता है, और न खर्च ही किया जा सकता है—

जनम-जनम की पूँजी पायो,
जग में सभी खोवायी।
खरचै नहीं, कोई चोर न लैवे,
दिन-दिन बढ़त सवायी।

इसके अतिरिक्त गिरधर गोपालके प्रति मीराका प्रेम पूर्णतया सात्त्विक है, जिस प्रेममें फलकी आसक्ति नहीं है, मिलनकी व्याकुलता है, पर न मिलनेकी शिकायत नहीं है—

भव-सागर सूखि गयो है फिकर न मोहिं तरन की।

मीराके कृष्ण एक भावनामात्रके प्रतीक थे। कृष्णकी 'मोहनी मूरत साँवली सूरत' अन्तर्जगत या भावनाकी वस्तु थी। मीराका यह कृष्णके प्रति अलौकिक प्रेम था।

मूलतः मीरा कृष्णभक्ता और साधिका थी। कविता तो केवल आत्मानुभूतिके प्रकाशनका माध्यम थी। मीराकी सारी सीख एवं दार्शनिकता उसके अन्तःकरणसे फूट पड़ी हैं। उसकी यह दार्शनिकता सांसारिकतासे पूर्णतः परे है। उनके पदोंमें वेदनाका वह रस भरा है, जिसमें परमात्माके विरहमें व्याकुल आत्मा डूब जाती है। मीराकी वेदना युग-युगोंसे प्रियतमसे बिछुड़ी, पुण्यके लिए आकुल हर आत्माकी वेदना है। मीरा अन्धकारमय संसारमें आँखें खोलकर एक किरणके सहारे चलती हुई विरहके गीतोंको तड़प-तड़पकर गाती है—

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोणो होय।
गगन मण्डल पर सेज पिया की किस विधि मिलणो होय।

× × ×

मीरा के प्रभु पीर मिटै जब वैद सँवरिया होय॥

मीरा साधारण स्त्रियों की भाँति नहीं थी। उसके अंदर असाधारण तथा आदर्श जीवन व्यतीत करने की भावना थी। यह भावना श्रीकृष्णके प्रेमके रूपमें फलित हुई।

●

एक दृष्टिकोण

अवतारवाद और श्रीकृष्ण

श्रीराम मेहरोत्रा

★

दर्शन और जीवनके मूलतत्त्वको एक पंक्तिमें ग्रथित करते हुए गीताकारने मनोवैज्ञानिक तथ्य स्पष्ट किया है—**ये यथामां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**

यदि यह सत्य है तो मैं (बहुत-से अन्य सु-चेताओंके साथ) कृष्णके अवतारको एक निष्णात इतिहास मानता हूँ। इसपर यों भी विचार करें तो कोई आपत्ति न होगी कि, कृष्णागम युगकी पुराणवादी नीतिने उन्हें पौराणिक अधिक बनाया, ऐतिहासिक बहुत कम। कृष्णने एक आक्रान्त धर्मकी रक्षा करते हुए जीवन-सम्बन्धी कुछ नवीन धारणाओंको जन्म दिया था, इसलिए वे लोकोत्तर शक्तिसम्पन्न अवतारी पुरुष ही माने गये। युगीन मनोविज्ञानकी भूमिपर यह ठीक भी था। जगद्गुरु शंकराचार्य भी अवतारी मान लिये गये होते, किन्तु उन्होंने नया कुछ न कहकर, कुछ कहे गये को नये ढंगसे निरूपित किया था, इसलिए उन्हें वह कक्षा न मिल सकी।[1]

अवतारसम्बन्धी धारणा सनातनी आर्यसिद्धान्तका एक प्रमुख आधारस्तम्भ है। वस्तुतः वह केवल श्रद्धाका ही विषय नहीं, वरन् बुद्धि भी उसकी कायल है। जीवमात्रकी उत्पत्ति; उसके विकासवादी उत्थान और भारतीय अवतारवादकी स्थापनामें कथमपि अन्तर नहीं है। अवतारवादकी भूमिकामें मानवताके विकासका जो तथ्यगत रूप निहित है, वह पूर्णतः वैज्ञानिक और ऐतिहासिक है। आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त मानवकी वर्तमान स्थितिका आगम अनायास ही नहीं मानता, अपितु उसका विकास एक शृंखलाबद्ध रूपमें मानता है। इस विकासक्रमकी एकसूत्रता ही भारतीय अवतारवाद है।

जलप्लावनकी घटना विश्वकी प्रायः सभी जातियों और धर्मोंकी विचारधारामें अवश्य आती है। ऐतिहासिक अध्ययनसे भी यह स्पष्ट है कि एक समय इस सृष्टिपर जल-प्लावनकी ऐसी स्थिति आयी थी, जब किसी प्रकारका जीवन शेष नहीं रह गया था। जल-

---

१. ऐसी बात नहीं है। भारतीय इतिहासमें बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि और धर्मस्थापक हो गये हैं; पर उन्हें अवतारकी श्रेणीमें नहीं रक्खा गया। शङ्कराचार्यके परदादा गुरु शुकदेवजी भी अवतार श्रेणीमें नहीं गिने गये। जो दुष्टोंका दमन करके भू भार उतारते हुए साधुसंरक्षण और धर्मस्थापन कर गये। वे ही अवतारोंमें परिगणित हुए हैं। बुद्धने भी अहिंसाकी शक्तिसे हिंसकोंका दमन किया था। अतः अवतारी होने पर भी शस्त्र न उठानेके कारण वे 'महात्मा बुद्ध'के नामसे ही प्रसिद्ध हुए। अवतारी बुद्धके नामसे नहीं।—सम्पादक

प्लावनकी विभीषिकामें धीरे-धीरे शान्ति होने रहनेके साथ शनैः शनैः जलमें ही जीवोंकी उत्पत्ति आरम्भ हुई और इस प्रकार विकासगत सोपानोंको पार करते हुए यह सृष्टि आज अपनी वर्तमान अवस्थामें पहुँची है। विकासवादकी इस सीधी भूमिकाके आधारपर भारतीय अवतारवादकी स्थापनामें मानवताका स्पष्ट विकास और साथ ही भावी विकासकी ओर भी संकेत प्राप्त हो जाता है।

प्रथम अवतार मत्स्यका है, जो नितान्त जलमें रहनेवाला है। इसके बाद दूसरा अवतार कूर्मका है, जो अंशतः जलमें और अंशतः पृथ्वीपर रह सकनेमें समर्थ है। इस स्थितिमें विकासका एक पग आगे बढ़ा प्रतीत होता है, जब जलसे पृथ्वीकी ओर जीवनकी धारा पहुँचती दिखाई पड़ती है। वाराह अवतारतक आते-आते जीवधारियोंकी सबसे उच्च-श्रेणी स्तनधारी जीवोंका प्रादुर्भाव होता है, जिसे जीवशास्त्रमें 'मेमल्स'की संज्ञा दी गयी है। चौथे अवतारमें नृसिंहका नाम आता है, जो एक ओर नर और दूसरी ओर सिंहकी मिश्रित अभिव्यक्ति है। यह तथ्य प्रकट करता है कि अब भी मनुष्यमें पशुका अंश विद्यमान है, जिसका उन्नयन आवश्यक है। वामन-अवतारमें यह मानवीय विकासका एक स्पष्ट रूप धारण करने लगता है। मानवमें जब रक्तपिपासाकी स्थिति जाग्रत् होती है, तो वह परशु-रामकी प्रवृत्तिकी सूचना देता है। सातवाँ अवतार है रामका, जो परशुरामकी प्रवृत्तिका दमन करते हैं और मानवचेतनाके ऊर्ध्वगामी आरोहणके सबल प्रतीकके रूपमें 'पुरुषोत्तम'की संज्ञासे विभूषित होते हैं। कृष्णावतारमें मानवके चतुर्मुखी व्यक्तित्वका विकास दिखाई देता है जिसमें 'बुद्धि-मानस'का सुन्दर विस्तार है, जब कि रामावतारमें 'मानस-तत्त्वका रूप चरमा-वस्थामें प्राप्त होता है। नवाँ अवतार बुद्धका है, जो मानसिक स्तरसे उच्च बिन्दुपर है। यहाँ पहुँचकर मानव-भावोंका एक विशेष संकेत प्राप्त होता है, जो कल्कि-अवतारमें अपनी चरमा-भिव्यक्तिमें लक्षित होता है। इन अन्तिम तीन अवतारोंमें भविष्यकी ओर संकेत है, जिनमें मानवके आध्यात्मिक आरोहणका रहस्य निहित है।[1]

---

१. दसावतारोंके साथ विकासवादका सम्बन्ध जोड़ना भारी भ्रम है। यह जगत्-सर्ग विकासका नहीं ह्रासका इतिहास है। सम्पूर्ण विकास परब्रह्म परमात्मा ही हैं, उनसे ब्रह्मा आदि देवता तथा ऋषि-महर्षि हुए। पहलेसे उत्तरोत्तर सृष्टिमें जो लोग उत्पन्न हुए उनमें पूर्ववर्ती जनोंकी अपेक्षा शक्तिका ह्रास ही देखा गया है। पहले सत्ययुग पूर्ण विकसित युग होता है; बादके त्रेता आदि युग उत्तरोत्तर ह्रासके ही निदर्शन हैं। विकासवादी पहले जल-जन्तुओंमें मत्स्य हुआ ऐसा कहकर मत्स्यको विकासवादकी पहली सीढ़ी मानते हैं; परन्तु मत्स्यावतार मनुको जलप्लावनका दृश्य दिखानेके लिए हुआ था, आदि मानव मनु उस समय विद्यमान थे। समुद्र-मन्थनके समय कूर्म प्रकट हुए, उस समय देवसृष्टि हो चुकी थी। नृसिंहसे पहले प्रह्लाद, वामनसे पहले बलि—ये विकसित सृष्टिके पुरुषरत्न थे। अतः विकासवाद एक अटकल मात्र है; उसमें तथ्यका सर्वथा अभाव है।—सम्पादक

नृतत्त्ववेत्ता और ऐतिहासिकोंके मतानुसार यह जीवधारी सृष्टि प्रायः दस लाख वर्ष प्राचीन है। स्वाभाविक है कि इन अत्यन्त प्राचीन युगोंके इतिहासकी सामग्री सर्वथा, सर्वत्र अनुपलब्ध रहेगी। इसी कारण मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह अवतारोंका इतिहास, जो सृष्टि-की उत्पत्तिके समयसे ही क्रमशः विकसित होते गये थे, उनका प्रामाणिक इतिहास प्राप्त करना आकाशके तारे गिननेसे भी कहीं अधिक कठिन है। किन्तु परवर्ती पाँच अवतारों—परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्किका इतिहास प्राप्त करना बहुत कठिन नहीं है। इन अवतारोंमें अन्तिम दो (बुद्ध और कल्कि) से तो सभी परिचित हैं, और इनके सम्बन्धमें यह भी जानते हैं कि वे किस प्रकार एक व्यक्तिसे एक अवतारके रूपमें मान्य हुए और विश्व-जनसंख्याका बहुत बड़ा अंश उनका पूजक और अनुयायी बन गया। बुद्ध अपने जिन गुणोंके कारण अवतारी पुरुषके रूपमें पूज्य हुए, उन्हीं प्रकारके महान् गुणोंके कारण अन्य महापुरुषोंको भी अवतारी पुरुष माना गया हो तो क्या आश्चर्य। राम और कृष्ण भी इसी प्रकार अवतारी महापुरुष हुए, जिनके महान् एवं अतिमानवी गुणोंके कारण लोग उन्हें पुराण (पुरातन-ऐतिहासिक) ही नहीं, ब्रह्मात्मक शक्तिसम्पन्न अथवा स्वयं ब्रह्मपुरुष भी मानकर पूजने लगे। गुण-सम्पन्न पुरुषको तो आज भी देवकोटिमें रखा जाता है। महात्मा गांधीका यह कथन बिल्कुल सत्य है कि 'जीवमात्र ईश्वरका अवतार है, परन्तु लौकिक भाषामें हम सबको अवतार नहीं कहते।' जो अपने युगमें सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् होता है, उसीको भावी प्रजा अवतारके रूपमें पूजती है।

कभी-कभी ही नहीं, प्रायः ही ऐसा होता है कि समाजमें ऐसे बहुतसे अवाञ्छनीय तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं, जो सामाजिक मान्यता और मर्यादाके एकदम प्रतिकूल कार्य करने लगते हैं। प्रतिकूल ही नहीं, उसे निर्मूल भी करने लगते हैं। सामाजिक धर्मके इस ह्रास और पतनसे रक्षाके लिए बहुतसे सुधीजन प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु सत्य-रक्षाके संघर्षमें प्रायः विफलता ही प्राप्त होती है, सभी 'असत्य' शक्तिसे पीड़ित होने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें समाजमें जब किसी ऐसे शक्तिशाली व्यक्तित्वका उदय होता है, जो डूबते हुए सामाजिक और मानव धर्मको उबार लेता है, दीन-हीन-असहाय जनकी रक्षा करता है और सर्वजनहिताय सनातन धर्मकी प्रतिष्ठा करता है तो वह स्वभावतः ही अपने इस रक्षक गुणके कारण सबका पूज्य हो जाता है, सब उसमें अलौकिकताका आभास पाकर उसे किसी विशेष 'शक्तिका अवतरण' मान लेते हैं और फिर वह परम्परासे सदाके लिए पूज्य होकर अवतार कोटिमें पहुँच जाता है।

ईसासे पूर्व लगभग ४ हजार वर्षके अन्तिम शतकोंमें (महाभारत युद्धके समय) ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई थी, जब कि वैदिक धर्मका ह्रास होने लगा और समाजमें विघटन-कारी प्रवृत्ति प्रबल होती गयी। दूसरी ओर तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म (यज्ञप्रधान)में कोरी कामनाकी प्रधानताके कारण अनेक दोष घर करते गये, जिससे धार्मिक ह्रास भी होने लगा। एक जीवित जाति जब अधोगतिकी सीमापर पहुँच जाती है, तब उसीके भीतरसे पुन-निर्माणकी ऐसी शक्तियोंका उदय होता है जो प्राचीन मूल्यों और जीवनादर्शोंको नयी परि-

स्थितिमें नये रूपमें पुनः प्रतिष्ठापित करनेमें समर्थ होती है। भारतीय समाज ऐसी अनेक संक्रांतियोंसे गुजर चुका है। विष्णुके अवतारोंमें सर्वश्रेष्ठ माने जानेवालोंमें श्रीकृष्णचन्द्रका उदय ऐसे ही संक्रांतिकालमें हुआ था, जिन्होंने अपनी अदम्य शक्तिके द्वारा ज्ञान और कर्म-प्रधान सनातन मूल्योंकी पुनः स्थापना कराकर सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करनेका सम्मान प्राप्त किया, जिन्हें वैष्णव धर्मका आदि आचार्य अथवा भावुक मानवताके विश्वासके आधारपर परमात्माका परमअवतार कहना किसी भी प्रकार अनुचित न होगा। परिवर्तन और पुनःस्थायित्वकी ऐसी शक्ति रखनेवाला व्यक्ति ही महान् सुधारक, पैगम्बर (देवदूत), अवतार (धर्म-संस्थापक), धर्म-प्रवर्तक आदि कहा जाता है।

अपने अतिमानवीय किंवा अलौकिक गुणोंके कारण श्रीकृष्णने भारतीय धर्म, संस्कृति और इतिहासको अपनेमें इतना आत्मसात् कर लिया कि भारतीयताका कोना-कोना उनके रंगमें रँगता रहा। महाभारतकार कृष्णद्वैपायन (व्यास) के प्रयत्नसे आजदिन हमें न केवल श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्र और सिद्धांतकी चर्चा ही देखने-सुननेको मिलती है, वरन् अनुसंधाताओंके प्रयत्नसे उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व और निश्चित प्राचीनताका भी वहुत कुछ पता चल जाता है। ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता, छांदोग्योपनिषद तथा पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि-प्रभृति वैयाकरणोंके ग्रन्थोंमें तो स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण-चरित्रकी चर्चा हुई ही है, जिससे उनके ऐतिहासिक होनेकी पुष्टि होती है; आधुनिक युगमें देशी-विदेशी अनुसंधाताओंके प्रयत्नसे भी श्रीकृष्णके काल-निर्णयका स्तुत्य प्रयास हुआ है। स्थान-संकोचके कारण विस्तारमें न जाकर हम केवल दो ही ऐसे तथ्योंका उल्लेख करेंगे, जिनसे कृष्णके ऐतिहासिक काल-निर्णयका स्पष्टीकरण होता है।

यद्यपि अनेकशः यूरोपीय विद्वानोंकी यह प्रवल कुण्ठा रही है कि वे विश्वके समक्ष यह न प्रकट होने दें कि वे भारतीयोंकी अपेक्षा वहुत वादमें सभ्य हुए और इसी कारण हण्टर, हुलकिंस्टन प्रभृति विद्वानोंने श्रीकृष्णका समय १२ सौ से १५ सौ ई० पूर्वतक अंकित किया है, किन्तु निष्पक्ष और उदारचेता विद्वानोंने सत्यको यथातथ्य रूपमें प्रकट करनेमें कभी कोई संकोच या लज्जाका अनुभव नहीं किया। भारतीय पंचांगोंके अनुसार वर्तमान कल्यब्द ५१२५ है। तदनुसार महाभारत युद्ध कल्यब्द १ में हुआ। भारतीयोंके इस तथ्यकी पुष्टिके सम्वन्धमें काउण्ट आन्स्टजर्ना नामक विद्वान्का कथन है कि कलियुगका आरम्भ लिखते हुए आर्यज्यौतिपियोंने बताया है कि उस समय सभी ग्रह एक सीधमें आ गये थे। वेली नामक यूरोपीय ज्योतिपी विद्वान्की गणनासे ज्ञात होता है कि यह (कलि) समय ईसाके जन्मसे ३१०२ वर्ष पूर्व, २० फरवरी, २ वजकर २७ मिनट और ३० सेकेण्डपर हुआ था। उक्त प्रमाणानुसार वर्तमान ईस्वी सन् १९६९ में कलियुगका आरम्भ हुए प्रायः ३१०२ + १९६९ सन् ईस्वी = ५०७१ वर्ष हो चुके। महाभारत-युद्ध इसी समय हुआ था, जिसमें श्रीकृष्ण भी मौजूद थे।

महाभारत-युद्धका जो काल-निर्णय भारतीय विद्वान् करते हैं, प्रायः उसी समयको प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् मैगास्थनीजने भी निरूपित किया है जिससे भारतीय विद्वानोंका कथन प्रमाणित होता है। मैगास्थनोजका कथन है कि 'दार्यानिससे संद्राकोटसके समय तक भारतीय जनता

१५३ महाराजाओंकी गणना करती है। दार्यानिसस हेराक्लीससे १५ पीढ़ी पूर्व हो चुका था। भारतके सौरसेवाई (शौरसेनी) जातिमें जो जोवेरीज (जमुना) नदीके किनारे बस्ती है तथा मौथोरा (मथुरा) और क्लोसोथर (कृष्णपुर) जिसके प्रधान नगर हैं, हैराक्लीज (हरिकृष्ण) विशेष सम्मानके साथ स्मरण किया जाता है।' उक्त लेखमें यूनानी राजदूत दार्यानिसस नामसे किस भारतीय महाराजको सम्बोधित करते हैं यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है किन्तु संद्राकोटस और हैराक्लीस चन्द्रगुप्त और हरिकृष्ण हैं। इस लेखके अनुसार १५३ महाराजाओंका समय ठीक-ठीक कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। तथापि उसमें जो यह अंकित किया गया है कि दार्यानिसस हैराक्लीससे १५ पीढ़ी पूर्व हुआ था, उससे ज्ञात होता है कि हरिकृष्णसे चन्द्रगुप्त तक (१५३ – १५) = १३८ महाराजा हो चुके थे। यद्यपि प्रत्येक राजाका शासनकाल औसतन २० वर्ष भी मान लिया जाय तो १३८ × २० = २७६० वर्ष पूर्व विद्यमान थे। अतः हरिकृष्णका समय आजसे २७६० + ३१२ + १९६९ ईस्वी सन् = ५०४१ होता है।

अतः यूरोपीय विद्वान् काउण्ट जान्स्टर्नके अनुसार श्रीकृष्ण आजसे ५०७१ वर्ष पूर्व विद्यमान थे, मैगास्थनीजके अनुसार ५०४१ वर्ष पूर्व और भारतीय ज्योतिषियोंके अनुसार ५१२७ वर्ष पूर्व विद्यमान थे। इन गणनाओंके बीच समयका जो अन्तर है, वह कोई महत्त्व-पूर्ण नहीं, क्योंकि वह बहुत थोड़ा है। अतः अनुसन्धाताओंके प्रयत्नसे श्रीकृष्णका काल-निर्णय भी हो जाता है।

श्रीकृष्णने तत्कालीन नयी परिस्थितिमें सामाजिक, धार्मिक आदि विशृङ्खलताओंके बीच प्राचीन मूल्यों और जीवनादर्शोंके माध्यमसे एक नवीन धार्मिक विचारधाराका विकास किया, जो वैष्णव-धर्मके नामसे प्रसिद्ध हुई और उनकी विचारधारासे सम्पूर्ण आर्यावर्त इस प्रकार आप्लावित हुआ कि देश-विदेशमें सर्वत्र निष्काम कर्मके दर्शनकी दुन्दुभि बज उठी। किन्तु उनके इस धर्म-प्रवर्तनमें जो सबसे बड़ी बात ध्यान देनेकी है, जिसके कारण यह धर्म लोक-प्रिय हुआ, वह यह कि नये धर्मका प्रवर्तन करते हुए श्रीकृष्णने प्राचीनता-प्रेमी आर्यसमाजके आगे उनके आराध्य ग्रंथ वेदोंकी निन्दामें एक वाक्य भी नहीं कहा, वरन् उन्हींके देवता विष्णुकी महत्त्ववृद्धिमें दत्त-चित्त रहे, उनकी पूजा-पद्धतिके विरुद्ध अंगुलिसंकेत भी नहीं किया और सबसे बढ़कर बात यह थी कि उन्होंने नवधर्मप्रवर्तक होनेकी कभी डींग नहीं हाँकी अपितु गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि 'जो योगकी बातें मैं तुम्हें बतला रहा हूँ वे नयी नहीं हैं।'[1]

●

---

१. इस लेखमें कही गयी बहुत-सी बातोंसे हम सहमत नहीं है; तथापि विचार-स्वातन्त्र्यके आदरार्थ इसे प्रकाशित किया गया है।—संपादक

हमारे साधु क्या करें ?

प्राणाचार्य कविवर पं० श्रीहरिदत्त जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ

★

[गतांक से आगे]

श्रीशंकराचार्यजी और श्रीचैतन्य महाप्रभुने जो वर्ण और आश्रमका खण्डन किया है, जैसा कि—

'न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः' या 'नाहं विप्रो न च नरपतिः'

आदि। यह सब परमार्थदृष्टिसे वर्णन है। इन परमार्थ-अवस्थाके वर्णनोंको व्यावहारिक अवस्थामें व्यवहार्य मानना सर्वथा अनुचित है। यह तो अपने आपको और जनताको धोखा देना है। व्यवहार-अवस्थामें पूज्य भी हैं, पूजक भी हैं; गुरु भी हैं, शिष्य भी हैं; ब्राह्मण भी हैं, चाण्डाल भी हैं; स्वामी भी हैं, सेवक भी हैं; संन्यासी भी हैं, गृहस्थ भी हैं; (पुरुषके लिए) माता-बहिन-पुत्री भी हैं, पत्नी भी हैं; (स्त्रीके लिए) पिता-भाई-पुत्र भी हैं, पति भी हैं; नेता भी हैं, जनता भी हैं; राजा भी हैं, प्रजा भी हैं; न्यायाधीश भी हैं, अपराधी भी हैं; स्पृश्य भी हैं, अस्पृश्य भी हेय भी हैं, उपादेय भी हैं और इन सभीके पृथक्-पृथक् धर्म तथा पृथक्-पृथक् आचरण हैं, सबमें विरोधी व्यवहार-भेद है। इस व्यवहार-भेदको मिटाकर यदि कोई कहें कि सबमें एक ही परमात्मा हैं या सभी एक मनुष्य जाति हैं, अतः सबके लिए सभी कर्म समान कर्तव्य हैं। विधि-निषेध दोनों ही मिथ्या हैं तो ऐसा मानना और करना निश्चित ही पशुताको चरितार्थ करना है।

अतएव 'भारत-साधु-समाज'के मंचसे दिये हुए श्रीस्वामीजी महाराजके, जो स्वयं गृहस्थाश्रम तथा गृहस्थके कर्मोंका परित्याग करके संन्यासाश्रममें स्थित हैं, भाषणका भाव यही है कि उचित तथा आवश्यक व्यवहार-भेद रखते हुए ही सबमें समान सर्वथा भेदरहित आत्म-दृष्टि रखें; अभिमान, द्वेष, द्रोह, हिंसाको सर्वथा त्यागकर सबके सम्मान, सुख तथा हितका आचरण करें। व्यवहारका विहित भेद मिटाकर पशुता-उच्छृंखलताके प्रचारकी कल्पना भी 'साधु-समाज'के द्वारा नहीं की जा सकती। हमने तो यही समझा है और यही सबको समझना चाहिए।

उच्छृंखलता तथा पशुताके प्रचारके लिए साधुकी या साधु-समाजकी क्या आवश्यकता है? उसके लिए तो आजकलके सिनेमा, स्कूल-कालेज, धर्म तथा सदाचार-विरोधी समुदाय

और अनुचित बोलनेवाले स्वयंभू नेता ही पर्याप्त हैं। जहाँ माँ-बहिन-पत्नीका भेद नहीं, जहाँ सत्य और असत्यका भेद नहीं, जहाँ सदाचार और कदाचारका भेद नहीं, जहाँ साधु-चरित्र और अ-साधु-चरित्रका भेद नहीं, जहाँ व्यवहार-जगत्में सभीको एक तथा सभीके लिए एक-से आचरणकी बात कही जाती है, ऐसी समताका प्रचार साधु-समाज कभी नहीं कर सकता और न स्वामीजीके भाषणसे ही किसीको ऐसी बात समझनी चाहिए।

श्रीशंकराचार्य और चाण्डालका जो संवाद शंकरदिग्विजयमें आया है, उसके अनुसार श्रीशंकराचार्य गंगास्नानको जाते हैं। रास्तेमें उन्हें चार कुत्तोंसे घिरा हुआ एक भद्दी सूरतका चाण्डाल दिखायी देता है। उसे देखकर श्रीशंकराचार्यजी उसे दूर हटनेको कहते हैं। इसके उत्तरमें चाण्डाल कहता है—"तुम ब्रह्ममें भी भेद-कल्पना करते हो, अनेक लोग इसी प्रकार हाथमें दण्ड-कमण्डलु धारण किये गेरुआ वस्त्र पहने और चतुरतासे वचन बोलते हुए जगत्को ठगा करते हैं। तुम किसको हटाना चाहते हो? एक अद्वितीय, अनिन्दनीय, दृश्य पदार्थोंके संगसे रहित, सत्-चित्-आनन्दरूप भेदहीन ब्रह्मको या देहको? अन्नमय देहसे अन्नमय देहका कोई भेद नहीं। साक्षी आत्मामें तो कोई भेद है ही नहीं। वह अखण्ड तथा सबका अन्तरात्मा है। क्या प्रत्यगात्माके विषयमें ब्राह्मण और चाण्डालका भेद मानना तुम जैसे अद्वैतवादीके लिए उचित है? गंगा तथा मदिरापर प्रतिबिम्बित सूर्यमें क्या किसी प्रकारका भेद है? क्या वह शुद्ध या अशुद्ध बन जाता है? प्रतिबिम्बकी भिन्नता होनेपर भी प्रतिबिम्बित सूर्य एक ही रहता है, इसी प्रकार साक्षी आत्मा एक ही है, फिर मैं पवित्र ब्राह्मण हूँ और तुम चाण्डाल हो, यह बुद्धि कैसे हुई? यह सब सुनकर भगवान् श्रीशंकराचार्यजीने कहा—

सर्वमात्ममयं विश्वं भाति यस्य महात्मनः।
द्विजो वा श्वपचो वास्तु वंदनीयः स मे गुरुः॥
या चिदिर्विष्णुधात्रादौ भाति सा पुत्तिकादिषु।
सैवाहं नास्ति वै दृश्यं येन बुद्धं स मे गुरुः॥
यत्र यत्र भवेद्बोधस्तदर्थसमुपेक्षणात्।
बोधमात्रमहं तस्यां बुद्धं येन स मे गुरुः॥

(शंकरदिग्विजय ४, २५-२७)

'जिसकी दृष्टिमें सम्पूर्ण विश्वमें ज्ञानमात्र परमात्मा ही एक तत्त्व है, और जो यह जानता है कि जो चितिशक्ति (चैतन्य) विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि देवताओंमें स्फुरित है, वही चितिशक्ति (चैतन्य) एक पुतलीमें भी है—कूकर-शूकर, कीड़े-मकोड़े जैसे क्षुद्र जीवोंमें भी है और वह चितिशक्ति (चैतन्य) मैं ही हूँ। मुझसे अतिरिक्त यह दृश्य जगत् है ही नहीं। सारा विश्व ही उस परमात्माका स्वरूप है, वह भले ही ब्राह्मण हो या चाण्डाल, मेरा वन्दनीय गुरु है।'

भाषते यावदित्थं स तावदग्रे शिवः स्वकम्।
वेदैश्चतुर्भिरायुक्तं दर्शयामास तद्वपुः॥

(शंकरदिग्विजय ४-२८)

इतना कहते ही चाण्डाल रूप अन्तर्हित हो गया, चारो कुत्ते नहीं रहे और उनकी जगह चारो वेदोंके सहित साक्षात् भगवान् शिव प्रकट हो गये। भगवान् शंकर ही चाण्डालके रूपमें आये थे। तब श्रीशंकराचार्यजीने उन्हें प्रणाम करके स्तुति की।

भयेन भक्तिधैर्याभ्यां युक्तः श्रीशंकरो यतिः।
तुष्टाववाग्भिरग्र्याभिः प्रत्यगात्मानमीश्वरम्॥
दासस्ते देहदृष्ट्याहं जीवदृष्ट्या तवांशकः।
आत्मदृष्ट्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥
यस्य भासा प्रकाशन्ते लोका लोकेशमानिनः।
नमस्तस्मै चिदानन्दवपुषे परमात्मने॥

(शंकरदिग्विजय ४. २९–३१)

तब शंकराचार्यजीने भय, भक्ति और धैर्यपूर्वक अपने ही आत्मस्वरूप भगवान् शिवजीकी उत्तम वाणीसे स्तुति की और कहा—

'देहदृष्टिसे मैं आपका दास हूँ, जीवदृष्टिसे मैं आपका अंश हूँ, आत्मदृष्टिसे आप और मैं एक ही हूँ। ऐसी मेरी निश्चल मति है।'

'जिसके प्रकाशसे लोक और लोकाभिमानी देवगण प्रकाशित होते हैं, उन चिदानन्दाकार शरीरधारी परमात्माके लिए मेरा नमस्कार हो।'

श्रीशंकराचार्यजीने चाण्डालको—ब्राह्मण हो या चाण्डाल, वह मेरा वन्दनीय गुरु है—ऐसा तभी कहा, जब उन्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो गया कि यह सर्वथा ब्रह्मस्थित है, इसकी दृष्टिमें दृश्य जगत् रहा ही नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने 'चाण्डाल' देहधारी मनुष्यकी वन्दना नहीं की। तत्त्वज्ञानकी वन्दना की।

डाक्टर रोगीका आपरेशन करते समय अपने हाथोंको भी अस्पृश्य समझता है। इसलिए रबड़के मोजे पहनता है और स्प्रिटसे धोता है। वास्तवमें अस्पृश्य माने जानेवाले लोगोंकी दुर्दशाका कारण आर्थिक है, धार्मिक नहीं। **वर्णाश्रम धर्ममें सब वर्णोंका व्यवसाय सुरक्षित था** जिसके कारण सब वर्ण और जाति अपने-अपने व्यवसायमें सुखी और सम्पन्न थी। **इस मशीनयुगने उन सबका व्यवसाय छीन लिया।** नाई, धोबी, चमार, खाती, रेगर, लोहार, तेली आदि सभी की जीविका आज छीन ली गयी है और उन्हें दीन, हीन, दुर्दशाग्रस्त बना दिया गया है। आश्चर्य तो यह है कि इस मशीन-युगके प्रवर्त्तकोंद्वारा पोषित नेतागण इस दोषको ब्राह्मणों, वेदों और शास्त्रोंके मत्थे मढ़ते हैं। ऐसे शास्त्रोंको जब्त करानेकी तथा जलानेकी सम्मति देते हैं। पर यह निश्चित बात है—जो संस्कृति, व्यवस्था, मर्यादा लाखों-करोड़ों वर्षोंसे चली आती है, जिसमें रहकर भारतीय समाज सदा सुखी-सम्पन्न और नित्य आत्मरक्षामें समर्थ रहा है, उसे नष्ट-भ्रष्ट करके जो लोग एक नये विकृत समाजकी व्यवस्था करनेका स्वप्न देखते हैं, वे कदापि समाजको सुखी, सम्पन्न और सन्तुष्ट नहीं कर सकेंगे। महर्षि याज्ञवल्क्यकी यहाँ स्पष्ट घोषणा है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

'आर्य-मर्यादामें व्यवस्थित वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाला वेदत्रयीसे सुरक्षित लोक सदा प्रसन्न रहता है, कभी कष्ट नहीं पाता।

यह ठीक है कि तत्त्वज्ञानीको अदृष्टकी प्राप्तिके लिए वर्णाश्रमधर्मके पालनकी आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः उसके लिए कोई कर्तव्य बचा ही नहीं है। परन्तु उसे भी जबतक उसका शरीरसे (दीखनेमात्रका ही सही) सम्बन्ध बना है, जबतक शरीर समाजमें है, तबतक उसे भी लोक-संग्रहके लिए लोक-कल्याणकारी शास्त्रोय कार्य करने पड़ते हैं। तत्त्वज्ञानियोंकी बात छोड़िये, स्वयं नित्यज्ञानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

(गीता ३।२१।२६)

"श्रेष्ठ पुरुष जो जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी उसीका अनुकरण करते हैं, वह जो कुछ भी प्रमाण कर देता है, लोग उसीको मानकर चलते हैं। अतः मेरा (अपने लिए) तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है। न किञ्चित् भी कोई ऐसी वस्तु है, जो मुझे प्राप्त नहीं है और प्राप्त करनी है, तो भी मैं कर्ममें वर्तता हूँ। यदि कदाचित् मैं सतर्क रहकर कर्म न करूँ तो मेरी देखादेखी करनेवाले सब लोग ही कर्म छोड़ दें, वे भी वैसे ही वर्तने लगें। अतः मैं कर्म न करूँ तो यह सारा लोक उत्सन्न हो जाय और मैं वर्णसंकर तथा कर्मसंकरकाकर्ता—समाज-विघटन करनेवाला बनूँ। इसलिए कर्ममें आसक्त अज्ञानी लोग जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त होकर भी ज्ञानीको लोक-संग्रहके—लोकरक्षाके लिए कर्म करना चाहिए। ज्ञानीपुरुषको चाहिए कि वह कर्मासक्त लोगोंकी बुद्धिमें भ्रम पैदा न करें, उन्हें सत्कर्मोंमें अश्रद्धावान् न होने दें। स्वयं भलीभाँति सब कर्म करते हुए उनसे भी वैसे ही करावे।"

परम श्रद्धेय श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने जगत्के प्राणियोंका कल्याण करनेके लिए स्वयं नरक जाना स्वीकार करके उच्च स्वरसे सबको मन्त्र सुना दिया। यह उनकी आदर्श उदारता है। लोककल्याणके लिए जो अपनी हानिका कुछ भी ध्यान नहीं करता, वह त्यागी महात्मा सदा वन्दनीय है। श्रीआचार्यचरण ऐसे ही महान् वन्दनीय महापुरुष थे। परन्तु इससे यह भाव किसीको नहीं लेना चाहिए कि उन्होंने गुरुको अनुदार समझा, अपनेको उदार-दयालु समझा और उनका गुरु-शिष्यका व्यवहार-भेदरूप सम्बन्ध बदल गया। वे शिष्य ही रहे। कहा जाता है कि उनकी उदारतासे उनके गुरु बड़े प्रसन्न हुए।

वास्तवमें हमारे इस शास्त्रोक्त अनिवार्य व्यवहार-भेदमें कहीं भी ईर्ष्या, घृणा, अभिमानमूलकता, किसीके आत्माको नीच समझनेकी कल्पना ही नहीं है। इस व्यवहार-भेदरूप धर्ममें ईर्ष्या, घृणा, अभिमान आदि देखना सरासर शास्त्रकी अवज्ञा करना है। हमारे इस महान् उदार धर्ममें मनुष्य तो क्या दानव-असुर, राक्षस, कूकर-शूकर, कीट-पतंग, गधा-कुत्ता—सभीमें भगवान् श्रीकृष्णने विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गाय और कुत्तेमें समदर्शन करनेवालेको पण्डित (ज्ञानी) बतलाया है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (गीता ५।१८)

श्रीमद्भागवतमें ब्राह्मण-चाण्डाल, चोर-सदाचारी, सूर्य और स्फुलिङ्ग एवं निर्दय तथा दयालुमें समान रूपसे आत्माको देखनेवालेको पण्डित बतलाया है। पर इन नामोंको देखनेसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि व्यावहारिक जगत्में इनमें समान व्यवहार सर्वथा असम्भव है। अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा प्रत्येक मनुष्य सबमें व्याप्त तथा सबके मूल भगवान्की पूजा कर सकता है, परन्तु कर्म सबके एक-से नहीं होते। अतएव इनमें घृणा, अपमानकी कल्पना नहीं है। पर सब देश, सब काल तथा सब अवस्थामें सबकी पूजा समान भावसे नहीं होती। न सभी कभी स्पृश्य होते हैं और न अस्पृश्य। सम्बन्धियोंकी बात छोड़िये, अपने अंग भी अवस्था-विशेषमें स्पृश्य और अस्पृश्य बन जाते हैं। इसके मूलमें घृणा नहीं है, विज्ञान है।

अतएव हमारे आदरणीय साधु-महात्माओंसे यही निवेदन है कि वे अखिल चराचरमें एक सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्माकी सत्ता देखते हुए, सबमें भगवान् या आत्माका निश्चय रखते हुए ही एक महान् आत्म-धर्म—विश्व-धर्मके अन्तर्गत स्वयं वर्णाश्रमानुकूल धर्मका आचरण करते हुए विश्वजनताको यही उपदेश दें कि सब लोग अपने-अपने पृथक्-पृथक् विभिन्न कर्मोंका आचरण करते हुए, अपने तथा लोकके कल्याणके लिए शास्त्रानुसार व्यवहार-भेदका पालन करते हुए अपना तथा प्राणिमात्रका सम्मान करें, सबको सुख पहुँचावें, सबके हितका सम्पादन करें। अनन्त विभिन्न नाम-रूपोंमें एक ही आत्मा या भगवान् अभिव्यक्त है, इस बातको न भूलकर सबको अनन्यभावसे प्रणाम करें।

यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।

●

वैष्णव शास्त्र पाञ्चरात्रके विषयमें पूर्वाचार्योंके विभिन्न विचार—

पांचरात्राधिकरण

श्रीव्रजवल्लभद्विवेदी, दर्शनाचार्य



ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायका द्वितीय पाद तर्कपादके नामसे परिचित है। इसका अन्तिम अधिकरण प्रस्तुत लेखका प्रतिपाद्य विषय है। आजकल ब्रह्मसूत्रके दस[1] भाष्य उपलब्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन शांकरभाष्य है। शंकरसे पहले भी इसपर अनेक भाष्य और वृत्ति-ग्रन्थोंकी रचना हुई थी, किन्तु अब वे काल-कवलित हो चुके हैं। आज इतस्ततः ग्रन्थोंमें उनके नामका उल्लेख अथवा उद्धरणमात्र प्राप्त होते हैं! प्रस्तुत अधिकरणके विषयमें उन आचार्योंका मत क्या था, इसको जाननेका आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। शंकर, रामानुज आदि आचार्योंने इस अधिकरणका नाम उत्पत्त्यसंभवाधिकरण[2] दिया है। अधिकांश भाष्यकारोंके मतसे इस अधिकरणमें पांचरात्र मतकी समालोचना की गयी है। श्रीकण्ठने तो पांचरात्राधिकरणके नामसे ही इसकी व्याख्या की है। प्रस्तुत लेखके विषयका बोध सरलतासे हो सके इसलिए हम भी यहाँपर पांचरात्राधिकरणके नामसे इसको सम्बोधित कर रहे हैं।

तर्कपादमें सांख्य, योग, वैशेषिक, जैन, बौध, पाशुपत और पांचरात्र मतका खण्डन कर औपनिषद मतकी स्थापना की गयी है। रामानुजाचार्यका मत है कि अन्तिम अधिकरणमें पांचरात्र मतका खण्डन न होकर, उसकी स्थापना की गयी है। मध्व, निम्बार्क और बलदेव विद्याभूषणने इसमें पादासंगति दोष देखकर इस अधिकरणके प्रतिपाद्य विषयमें ही परिवर्तन कर दिया है। उनके मतसे इस अधिकरणमें पांचरात्र मतकी समालोचना न होकर शाक्तमतकी आलोचना की गयी है। बात यह है कि वैष्णव आचार्य पांचरात्र मतको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। शांकर मतसे वैष्णव आचार्योंके मतभेदका मुख्य आधार ये पांचरात्र-संहिताएँ हैं। इस मतमें भक्ति और प्रपत्तिकी प्रतिष्ठा होनेके कारण यहाँपर जीव और जगत् भी परमार्थतः सत्य हैं तथा जीवको अणु माना गया है। इसीलिए प्रायः सभी वैष्णव आचार्योंको पांचरात्रका

---

१. १—शंकर, २—भास्कर, ३—रामानुज, ४—श्रीकण्ठ, ५—मध्व, ६—निम्बार्क, ७—श्रीकर, ८—विज्ञानभिक्षु, ९—वल्लभ और १०—बलदेवभाष्य।

२. विज्ञानभिक्षु 'उत्पत्त्यसंभवात्' इत्यादि चार सूत्रोंको पूर्व अधिकरणका ही अंग मानते हैं। इस प्रकार विज्ञानभिक्षुके मतसे उत्पत्त्यसंभवाधिकरण अथवा पांचरात्राधिकरणकी कोई सत्ता नहीं है।

प्रामाण्य निर्वाधरूपसे अभिप्रेत है। वैष्णव आचार्योंमें केवल वल्लभाचार्यको इस अधिकरणमें पांचरात्रका खण्डन अभिप्रेत है। इसका कारण यह है कि ये विशेषतया भागवतपुराणसे प्रभावित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक उत्तर भारतमें पांचरात्रका प्रभाव क्षीणप्राय हो गया था। श्रीकण्ठभाष्य और उसकी अप्पय-दीक्षितकी टीका शिवार्कमणिदीपिका, श्रीकरभाष्य और वल्लभभाष्यकी पुरुषोत्तमकृत प्रकाश-व्याख्या आदि ग्रन्थोंको देखनेसे यह मालूम होता है कि पांचरात्र आदि मतोंके विरुद्ध पुराणों तथा उपपुराणोंमें भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होने लगी थी।

नारायणीयोपाख्यानकी रचनाके समय ही नहीं, महिम्नस्तवकी रचनाके कालमें भी त्रयी, सांख्य, योग और पाशुपत मतके साथ वैष्णव मत अर्थात् पांचरात्रकी भी स्वतन्त्र मतके रूपमें प्रतिष्ठा विद्यमान थी। भगवद्गीतामें जहाँ इन मतोंके समन्वयका प्रयत्न हुआ, वहाँ तर्कपादमें इनका खण्डन कर औपनिषद मतकी स्वतन्त्र स्थापना की गयी। इसका दूरगामी प्रभाव हुआ और परवर्ती आचार्योंके द्वारा तर्कपादमें समालोचित मत अवैदिक करार दिये गये। यामुनाचार्य आदि वैष्णव आचार्योंने आगमप्रामाण्य आदि ग्रन्थोंके माध्यमसे पांचरात्र-आगमको वेदाविरोधी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया, किन्तु यह प्रयत्न अन्ततः सफल न हो सका और उत्तर भारतसे पांचरात्रकी परम्परा प्रायः लुप्त-सी हो गयी। स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णवके समयमें कश्मीरमें पांचरात्र, श्रुति और उपनिषद् उपलब्ध थे। आज ये नाम-शेष हैं। याज्ञ-वल्क्य-स्मृतिके टीकाकार अपरार्क ने तथा प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षितने तन्त्राधिकारि-निर्णयमें स्मृतिग्रन्थोंके समान वेदाविरुद्ध अंशमें पांचरात्रका प्रामाण्य अधिकारी विशेषके लिए स्वीकार किया है। वैष्णव ही नहीं, शैव और शाक्त आचार्य भास्करराय प्रभृतिने भी आगम-ग्रन्थोंका धर्मशास्त्रमें अन्तर्भाव किया है और इनको वेदानुवर्ती माना है। ब्रह्मसूत्रका ही यह प्रभाव है कि भारतीय जनमानसमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिए सभी मतोंको वेदकी शरणमें जाना पड़ा। ऐसा न कर सकनेवाले मत बहिष्कृत अथवा निष्प्रभाव कर दिये गये।

चारों[1] वेदोंकी उपासनासे भी परम श्रेयकी उपलब्धि न देखकर शाण्डिल्यने[2] पांचरात्र शास्त्रको प्राप्त किया था। इस उद्धरणसे पांचरात्रकी उपेक्षा वेदोंके प्रति शिथिल दृष्टिका बोध होता है। शंकराचार्य (२/२/४५)की इस व्याख्यासे रामानुजाचार्य (२/२/४२) सहमत नहीं हैं। उनको दृष्टिसे यह वचन प्रस्तुत पांचरात्रशास्त्रकी प्रशंसाके लिए अर्थवाद मात्र है। शंकराचार्यने पांचरात्र मतके विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया है कि यहाँ पर वासुदेवसे

---

१. 'चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्'।

२. वामनसंहितामें शाण्डिल्य, भारद्वाज, कौशिक, मौञ्जायन और औपगायन ये पाँच ऋषि पांचरात्रके प्रवक्ता माने गये हैं (साहित्य संस्थान, विद्यापीठ उदयपुरका 'पांचरात्रोत्पत्ति' नामक हस्तलेख, ग्रन्थ संख्या ३६०)। ईश्वरसंहिता १ परिच्छेदमें बताया गया है कि शाण्डिल्यने सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन और मौञ्जायनको इस शास्त्रका उपदेश दिया था।

संकर्षण की, संकर्षणसे प्रद्युम्नकी और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धकी उत्पत्ति मानी गयी है। वासुदेव स्वयं परमात्मा हैं, संकर्षण जीव, प्रद्युम्न मन, और अनिरुद्ध अहंकारस्थानीय माने गये हैं। जीवकी उत्पत्ति वैदिक सिद्धान्तोंके विरुद्ध है और कर्तृभूत (जीव) संकर्षणसे करणभूत (मन) प्रद्युम्नकी उत्पत्ति लोकविरुद्ध भी है, क्योंकि कहीं भी कर्तासे करणकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती।

रामानुजाचार्य ने इस अधिकरणके प्रथम दो सूत्रोंको पूर्वपक्ष सूत्र माना है और अन्तिम दो सूत्रोंमें उनका समाधान किया है। शंकराचार्यप्रदर्शित दोनों आक्षेपोंको वे पूर्वपक्षमें रखकर सिद्धान्तसूत्रोंके द्वारा उनका समाधान करते हैं। पौष्कर, सात्वक और परमसंहिताके प्रमाणों पर वे जीवोत्पत्तिवाद और कर्तृकरणवादका खण्डन करते हैं। उनका अभिप्राय है कि पांचरात्र-संहिताओंमें भी जीवको नित्य ही माना गया है। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमशः जीव, मन और अहंकार तत्त्वके अधिष्ठाता हैं, इसलिए यहाँपर इनका जीव आदि शब्दसे उसी प्रकार निर्देश कर दिया गया है, जैसे कि आकाश, प्राण आदि शब्दोंसे ब्रह्मका निर्देश किया जाता है।

शंकराचार्यने जिस पांचरात्र-मतको उद्धृत कर उसका खंडन किया है, वह यद्यपि आज उपलब्ध पांचरात्र-संहिताओंमें देखनेको नहीं मिलता, किन्तु नारायणीयोपाख्यानमें (३३९ अध्याय ३६-४१ तथा ७२-७४ श्लोक) वह ज्यों का त्यों उपलब्ध है। किन्तु इस प्रकरणके पूर्वापरावलोकनसे इसकी रामानुजाचार्यकी उक्त अधिकरणमें की गयी व्याख्या ही युक्ति-संगत प्रतीत होती है। ३३९ वें अध्यायके ३५वें श्लोकको और ३४४वें अध्यायके १४-१८ श्लोकोंको देखनेसे यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि ग्रन्थकारको यहाँ उत्पत्ति और विनाशके स्थान पर प्रादुर्भाव और तिरोभाव अभिप्रेत हैं। चतुर्मूर्ति अथवा चतुर्व्यूहका नारायणीयोपाख्यानमें विशेष विवरण नहीं मिलता, किन्तु पांचरात्र-संहिताओंमें, विशेषकर अहिर्बुध्न्य-संहितामें यह विस्तारसे वर्णित है।

ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज—ये छः गुण हैं। पर वासुदेवमें ये सभी स्तिमितावस्थामें विद्यमान रहते हैं। यह वासुदेवकी नित्योदितावस्था है। शान्तोदितावस्थामें ये गुण क्रियाशील हो उठते हैं और तब पर वासुदेव व्यूहावस्थाकी ओर अथवा शुद्ध-सृष्टिकी ओर अग्रसर होता है। व्यूह वासुदेवमें ये सभी गुण उन्मेषावस्थामें रहते हैं। संकर्षणमें ज्ञान और बल, प्रद्युम्नमें ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्धमें शक्ति और तेज इस प्रकार केवल दो-दो गुणोंका उन्मेष होता है। पर वासुदेवकी ही ये सब अवस्थायें हैं। कार्य-विशेषका संपादन करनेके लिए पर वासुदेव ही चतुर्व्यूह रूपमें अभिव्यक्त होता है। अन्य संहिताओंमें पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारके भेदसे ईश्वरके पांच स्वरूपोंका वर्णन किया गया है। रामानुजाचार्यने भी २/२/४१ के भाष्यमें वासुदेवको ही परब्रह्म माना है और वहाँ पर उसके सूक्ष्म, व्यूह और विभव रूपोंकी व्याख्या की है। इस जगह 'पर वासुदेव'के लिए 'सूक्ष्म' शब्दका प्रयोग हुआ है।

इस अधिकरणकी व्याख्यामें शंकरकी अपेक्षा भास्करका अपना कोई नवीन दृष्टिकोण परिलक्षित नहीं होता। दोनों इस अधिकरणके आरम्भमें एक ही बात कहते हैं कि पांचरात्रमें

जो कुछ वेदाविरोधी है, उसका यहाँ खण्डन नहीं किया जा रहा है, किन्तु वेदविरोधी अंश ही अधिकरणके खण्डनका विषय है। रामानुज इस व्याख्यासे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि पांचरात्रमें वेदविरोधी कुछ है ही नहीं, इसको वे इस अधिकरणके अन्तिम सूत्रमें विस्तारसे समझाते हैं। उनके इस प्रतिपादनका मुख्य आधार नारायणीयोपाख्यान है। उनका कहना है कि सूत्रकारने ही वेदके उपबृंहणके लिए शतसहस्र श्लोककी भारत-संहिताकी रचना की। उन्होंने मोक्षधर्ममें ज्ञानकाण्डका प्रतिपादन करते हुए विस्तारसे पांचरात्रकी प्रक्रियाका वर्णन किया है और कहा है कि दहीको मथकर जैसे उसमेंसे सार वस्तु मक्खन निकाला जाता है, उसी प्रकार पूरे महाभारतको मथकर उससे पांचरात्रके प्रतिपादक सारभूत नारायणीयोपाख्यानकी रचना की गयी है। महाभारतके भीष्मपर्वमें भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन मिलता है। ऐसी परिस्थितिमें सूत्रकार बादरायण कैसे इस अधिकरणमें पांचरात्रकी आलोचना कर सकते हैं। नारायणीयोपाख्यानमें स्पष्ट ही कहा है कि पूरे पांचरात्र-शास्त्रके वक्ता स्वयं नारायण हैं। अन्तमें—

सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

इस श्लोकको उद्धृत करते हुये रामानुजाचार्य कहते हैं कि तर्कपादमें न केवल पांचरात्रका, सांख्य, योग और पाशुपतमतका भी सर्वात्मना खण्डन नहीं किया गया है। केवल वेदविरोधी अंशकी ही समालोचना हुई है। इतर मतोंके लिए जो बात रामानुज कहते हैं, वही बात शंकर और भास्कर पंचरात्रके लिए भी कहते हैं। किन्तु पांचरात्र-शास्त्रमें श्रद्धातिशयके कारण रामानुज उसको माननेको तैयार नहीं हैं। सूत्रकार और महाभारतके रचनाकारका एकत्व उनकी दृष्टिमें अपने मतके समर्थनके लिए एक प्रबल प्रमाण है। एक ही ग्रन्थकार अपने दो ग्रन्थोंमें परस्परविरोधी भाव व्यक्त नहीं कर सकता। हम रामानुजाचार्यकी इस श्रद्धा भरी युक्तिको आजकी ऐतिहासिक पद्धतिका अवलम्बन कर अन्यथा नहीं करना चाहते। इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि भारतीय प्रबुद्ध समाजमें उक्त पाँच मतोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। तर्कपाद और उनके व्याख्याताओंके खण्डनके बाद भी उनपर किसीकी अनास्था नहीं हुई। हाँ, कालप्रवाहमें पड़कर आज पांचरात्र और पाशुपत मत आँखोंसे कुछ ओझल-से होते जा रहे हैं। तांत्रिक वाङ्मयकी उपेक्षा इसमें कारण हो सकती है। इतना होनेपर भी इन मतोंकी मूल मान्यतायें प्रकारान्तरसे अन्य रूपोंमें भारतीय जन-जीवनमें घुल-मिल गयी हैं, इस बातको कौन अस्वीकार कर सकता है।

●

---

१. श्रीकण्ठ शिवाचार्य और रामानुजाचार्यमें कौन पूर्ववर्ती हैं, इस विवादमें पड़नेका यहाँ अवसर नहीं है। किन्तु इस अधिकरणमें पांचरात्रके अप्रामाण्यको सिद्ध करते हुए श्रीकण्ठने जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे रामानुज-भाष्य के तर्कोंका उत्तर दे रहे हों।

कर्मयोग ही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य—

गीतोक्त कर्मयोगके आश्रयसे भगवत्-प्राप्ति

साहित्याचार्य श्रीरघुनाथप्रसाद चतुर्वेदी



पुराण-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे निर्गत इस गीता-शास्त्रके सम्बन्धमें मेरी यह निश्चित धारणा है कि हम भारतीयोंके पूर्वपुरुष एवं महापुरुष उन भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अपने परमभक्त अर्जुनकी प्रिय-कामनासे आविर्भावित शास्त्ररत्न यह गीता-शास्त्र आर्य-धर्मावलम्वी हम भारतीयोंकी ही उन्नतिका साधक नहीं, वल्कि आश्रय करनेवाले विश्वके मानव-मात्रकी उन्नतिका साधक एवं पथ-प्रदर्शक रत्न है, अतः न केवल हमारे ही उत्थानके लिए इस शास्त्र-रत्नके द्वारा प्रतिपादित मार्गके आश्रयणकी वहुत वड़ी आवश्यकता है, बल्कि समस्त विश्वके मानवमात्रके उत्थान और कल्याणके लिए इस शास्त्रके द्वारा वतलाये गये मार्गके आश्रयणकी वहुत वड़ी आवश्यकता है।

रत्नगर्भा वीरप्रसविनी आर्यभूमि इस भारत-वसुन्धराका यह एक वहुत वड़ा दुर्भाग्य ही है कि जो वह वेद, उपनिषद्, गीता सदृश अपने अनुपम रत्नोंके रहते हुए भी उनका आश्रय न करनेके कारण अपने आत्माको दीन-हीन—जैसा अनुभव करती है, और उसके हृदयमें उसकी वास्तविक महत्ताको प्रकट करनेवाला स्वाभिमान स्थान नहीं पाता, जिससे कि वह सदा ही अपने मस्तकको ऊँचा रख सके।

आज उन्नततम आर्यधर्मकी उच्च शिक्षाओंसे परिपूर्ण वेद, उपनिषद्, गीता सदृश शास्त्रोंके द्वारा बतलाये गये आर्यधर्मके प्रति हमारा लेशमात्र भी ध्यान नहीं, इसी कारण आज हमारे देश और उसके मानवका सर्वतोमुखी पतन दिखलायी दे रहा है, इन ग्रन्थ-रत्नोंमें वेद और उपनिषदोंके द्वारा दी जानेवाली शिक्षाकी तो वात ही क्या है? हमारे समीप आकारमें छोटे-से-छोटा तथा वेद, उपनिषद् आदिका सार यह गीता नामक रत्न ही ऐसा महत्त्वपूर्ण रत्न है कि यदि हम उसके द्वारा दिखलाये गये मार्गके पथिक वनें तो कभी भी हमें अपने आत्माकी दीनता-हीनताका अनुभव न हो।

विभिन्न सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेवाले विभिन्न विद्वानों द्वारा विरचित इस ग्रन्थ-रत्नकी अनेक टीकाएँ जैसे इस ग्रन्थके सर्व-सम्मत महत्त्वको प्रकट करती हैं, वैसे ही वे साधारण तत्व-जिज्ञासुके मार्गमें एक कठिनता भी पैदा करती हैं कि वह इन व्याख्याताओंके द्वारा प्रतिपादित अनेक मार्गोंमेंसे किस मार्गका अनुसरण करे। ध्यानसे इसके इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे यही ज्ञात होता है कि अनेक मार्गोंके प्रतिपादक भी इस ग्रन्थ-रत्नका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्ममार्ग ही मानते हैं, जो इसके उपक्रम और उपसंहारसे भली-भाँति ज्ञात होता है।

वास्तवमें यह शास्त्र महाभारतके युद्धमें कौरव पाण्डवोंके आमन्त्रणपर देशके सभी भागोंसे आये हुए युद्धाभिलाषी अपने बन्धु-बान्धवोंको देखकर विषादपूर्ण हृदयवाले, एवं समयानुसार इतिकर्तव्यताके ज्ञानसे शून्य अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलानेके लिए भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट कर्ममार्गपर प्रवृत्ति करानेवाला एक सारगर्भित ग्रन्थ-रत्न है, इसे तो सभी जानते हैं, किन्तु वह उपदेश केवल अर्जुन मात्रको ही उसके कर्तव्य कर्मका ज्ञान नहीं कराता, वह तो समस्त जगत्में अपने कर्तव्यका इतिकर्तव्यताके प्रति मूढमति मानवमात्रको उसके कर्तव्यका ज्ञान कराता है। इसीलिए कहा गया है कि—

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिर्गता॥"

तथा— "सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥"

इन दोनों ही सूक्तियों द्वारा यही बतलाया गया है कि मानवको पद्मनाभ गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके मुखकमलसे निकले इसी गीता शास्त्रको समस्त शास्त्रोंके विस्तारको छोड़ अपना हृदयाभरण बनाना चाहिए; क्योंकि यह शास्त्र गोरूपसे अवतरित वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थोंके साररूप अमृतसे परिपूर्ण है, जिसे गायोंके दोहनकार्य तथा इनके रक्षण कार्यमें अत्यधिक निपुण गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने जन्म, जरा, मरण आदि अनेक सांसारिक क्लेशोंसे दुखी तथा इस जगत्की अनेक शंकाओंके समाधानमें महान् क्लेशका अनुभव करनेवाले इस जगत्—प्राणियोंके लिए पार्थरूप वत्स के माध्यमसे सुधीभोक्ताओंके लिए वितरित किया है।

प्रधानरूपसे कर्ममार्गका प्रतिपादन करनेवाले इस गीता नामक शास्त्रमें ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि अनेक योगोंके अधिक स्पष्ट विवेचनको प्रस्तुत कर आत्माकी जन्म, जरा, मरण आदि अवस्थाओंका निराकरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने—**"न जायते म्रियते वा कदाचित्" "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय" "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि"** आदि के द्वारा यही बतलाया है कि यह आत्मा जन्म, जरा, मरण आदि विकारोंसे शून्य, शस्त्र, अग्नि आदि पदार्थोंके द्वारा होनेवाले छेद, दाह आदि से रहित संसार के साधन इस शरीरको वैसे ही धारण करता और छोड़ता है, जैसे कोई व्यक्ति अपने जीर्ण तथा मलिन वस्त्रोंका परित्याग कर अन्य नवीन वस्त्र धारण करता है। अतः जन्म, जरा, मरण, छेद, दाह आदि विकारोंसे शून्य आत्माके द्वारा उस शरीरके परित्यागके समय दीनताका आश्रय करनेवाले व्यक्तिके द्वारा जो शोक किया जाता है, वह व्यर्थ है।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥"

आदि वचनोंके अनुसार इस मानवका जैसे जन्मग्रहण नित्य है, वैसे ही इसकी मृत्यु भी निश्चित तथा अपरिहार्य है, अतः इस शरीरकी मृत्युके समय शोककी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह जीव अपने पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही जन्म लेता तथा मरता है।

"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥" (गी० ।५)

आदि वचनके अनुसार इस जगत्में कोई भी प्राणी एक क्षणके लिए भी कर्मशून्य नहीं रह सकता, उसकी प्रकृति ही उसे कर्म करनेके लिए वलात् प्रेरित करती और नियुक्त करती है, अतः प्रकृतिके परवश यह मानव वेवस होकर पुण्यपापात्मक फलके देनेवाले सुकर्म दुष्कर्म रूप दो प्रकारके कर्मोंका आचरण करता है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥"

आदि वचनके अनुसार यज्ञ, दान, तपरूप कर्मोंको करनेवाले मानवके द्वारा उनके फलकी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि फलकी अपेक्षासे किये गये कर्मोंके द्वारा अवश्य ही दुःखात्मक पुनर्जन्म आदि होते हैं, और यदि कर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया जाता तो उसके प्रतिफलरूप नरकादि लोक और दुर्योनियोंकी प्राप्ति होती है, अतः—

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।"

आदि वचनोंके अनुसार श्रौत, स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानमात्रसे सम्यक् सिद्धिको प्राप्त होनेवाले जनक आदि महापुरुषोंको देखकर आत्मतत्त्वको न जाननेवाले मुमुक्षु-पुरुषके द्वारा श्रुति-स्मृति प्रतिपादित कर्म अवश्य ही करने चाहिए। जिससे उन कर्मोंके भलीभाँति करनेसे उसे मोक्ष या कर्मोंसे वन्धनहीनताकी स्थिति प्राप्त हो।

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।'
तथा— 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः॥'

आदि वचनोंके अनुसार भी श्रेष्ठ-पुरुषोंकी भाँति लोक-संग्रहके लिए भी कर्तव्य-कर्मोंके सम्पादनकी वहुत वड़ी आवश्यकता है, अतः कर्मफलोंकी अभिलाषा न रखनेवाले पुरुषके द्वारा—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥'

आदि वचनानुसार विधिविहित लौकिक कर्म, अनायासलब्ध शास्त्रीय भोजन आदि कर्म, चरु, पुरोडाश आदि द्रव्योंसे सम्पन्नहोनेवाले अग्निमें हवन रूप यज्ञादि कर्म, सन्ध्यावन्दनादि वेदाध्ययनादि तपोरूप कर्म, पात्रोंके लिए दानरूप सत्कर्म भलीभाँति करके ईश्वरार्पण कर देने चाहिए, जिससे कि—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥'

आदि वचनोंके अनुसार किये गये कर्मोंके ईश्वरार्पण कर देनेसे कर्म-बन्धनोंसे मुक्त होकर तथा कर्मफलोंके संन्यासरूप योगसे युक्त होकर वह जीव निर्विशेष परब्रह्मरूप भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति करे।

श्रीरामका ग्रामीण जन-स्नेह

ज्यो॰ श्रीराधेश्याम द्विवेदी



प्रजावत्सल श्रीरामका ग्राम्य जीवन और ग्रामीण प्रजाके साथ सहवास और स्नेह उनके आनन्दमय जीवनका सबसे मधुर और सुखदायक प्रसंग है। नगरोंमें या ग्रामोंके समीप या वनोंमें जहाँ भी श्रीराम पहुँचते थे प्रजाजन अपनी सुध-बुध भूलकर उनपर मोहित हो जाते थे, और वे भी प्रेमपूर्वक प्रजामें घुल-मिल जाते थे। उनके जनकपुर पहुँचनेका वर्णन है कि :

जहँ जहँ गवने वन्धु दोऊ, तहँ तहँ भीर विसाल।
बाल युवा अरु वृद्ध सब डोलहिं संग विहाल॥

और भी कहा है कि :

नर नारिह्व मोहत फिरत गली गली में।

यह राजपुत्रोंका और जनताका सम्पर्क था। ग्रामवासियोंके प्रेमकी दशा तो और भी अधिक हृदयपर असर डालती है। वनबास कालमें जब श्रीराम ग्रामोंके पास जाते हैं तो ग्रामवासियोंकी प्रीति और रीतिका गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

'अबला बालक वृद्ध जन कर मीजहिं पछितांहि।
होहिं प्रेमवस लोग इमि राम जहाँ जहँ जाहिं॥'
'गाँव गाँव अस होय अनन्दू, देखि भानुकूल कैरव चन्दू।

ग्रामवासी कितने सहज भावसे और स्नेहसे श्रीरामजीसे पूछते हैं कि :

'करि केहरि वन जाइ न जोई, हम संग चलहिं जो आयसु होई।
जाँय जहाँ तहँ लगि पहुँचाई, फिरब बहोरि तुम्हहिं सरनाई॥
एहि विधि पूछहिं प्रेम बस पुलकि गात जल नैन।
कृपासिन्धु फेरहिं तिन्हहिं कहि विनीत मधु बैन॥

जिस ग्रामके पाससे श्रीराम जाते थे गाँवके बच्चे, बूढ़े, स्त्री, पुरुष अपने घरोंके सब काम-काज छोड़कर तुरन्त ही उनके साथ चल देते थे।

सुनि सब बाल वृद्ध अरु नारी, चलहिं तुरत सब काज बिसारी।
बरनि न जाइ दशा तिन केरी; लही रंक जनु सुरमुनि ढेरी॥

अर्थात् ग्रामवासियोंकी उस समयकी दशाका वर्णन नहीं की जा सकती मानो दरिद्रीने देवताओंके मणियोंकी ढेरी पा ली हो, भारतीय आदर्शको निभाते हुए ग्रामवासी प्रेम भरी सेवा श्रीरामचन्द्रजीकी करते हैं :

एक देखि वट छांह भलि डासि मृदुल तृनपात।
कहहिं गवाइअ छिनुक सम गवनव अबहिंकि प्रात॥

एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥
सुन प्रिय वचन प्रीति अति देखी। रामकृपाल सुसील बिसेखी॥

ग्रामवासी एक बरगदकी अच्छी छाया देखकर वहाँ कोमल तिनके और पत्ते बिछाकर श्रीरामजीसे प्रेमपूर्वक कहते हैं कि यहाँ क्षण भर बैठकर थकावट दूर कर लीजिये और पूछते हैं कि आप अभी जायँगे या सवेरे जायँगें। एक ग्रामीण कलश भरकर पानी ले आया और मधुरवाणीसे कहता है कि नाथ! मुँह-हाथ धोकर थोड़ा जल पी लीजिए, कृपालु श्रीरामजी भी उनके प्यारे वचन सुनकर अत्यन्त प्रीतिपूर्वक वहाँ बैठकर उन्हें आनन्द देते हैं। और बातचीत करते हैं। प्रेमकी मूर्ति श्रीरामजी प्रेमके प्यासे ग्रामवासियोंको अपनी स्नेहभरी बातचीतसे तृप्त कर देते हैं। गो० तुलसीदासजी कहते हैं कि :

थके नारि नर प्रेम पियासे, मनुहुँ मृगी मृग देखि दियासे।

'प्रेम पियासे ग्रामवासी स्त्री-पुरुष थककर ऐसे खड़े हो जाते हैं जैसे हिरनी वनमें दिया-सा देख थक जाते हैं। ग्रामोंकी स्त्रियोंका श्रीजानकीजीके साथ प्रेम-वार्तालाप तथा व्यवहार तो और भी चित्तको आनन्द देनेवाला होता है, गोस्वामी तुलसीदासजीने इसका कैसा सुन्दर वर्णन किया है।

'सीय समीप ग्राम तिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पांये। कहहिं वचन मृदु सरल सुभाये॥
राजकुमारि विनय हम करहीं। तिय सुभाय कछु पूछत डरहीं॥
स्वामिनि अविनय छमबि हमारी। बिलगु न मानव जानि गंवारी॥
कोटि मनोज लाजवनि हारे। समुखि कहहु को आँहि तुम्हारे॥'

सीताजीके समीप गाँवकी स्त्रियाँ जाती हैं पर अति स्नेहके कारण पूछते सकुचाती हैं, सब बार-बार पैरों लगती हैं और सहज स्वभावसे मधुर वचन कहती हैं कि हे राजकुमारी! हम सब आपकी विनती करती हैं पर स्त्री स्वभावसे कुछ पूछते डरती हैं। हे स्वामिनि! हमारी ढिठाईको क्षमा करना, हमें गँवारिन जानकर बुरा न मानना, करोड़ों कामदेवोंको लजानेवाले ये तुम्हारे कौन हैं। सीताजीने सकुचाकर और मुसकराकर उनको प्रेमपूर्वक ही उत्तर दिया। वे ग्राम-वधूटी उनके उत्तरको सुनकर ऐसी प्रसन्न हुई मानो किसी कंगालने राजाका कोष लूट लिया हो। जब श्रीराम वहाँसे चलने लगे तो ग्रामवासियों-को ऐसा दुःख हुआ मानो उनका सर्वस्व जा रहा हो। श्रीराम सबको बड़ी कठिनाईसे प्रेम पूर्वक समझाकर लौटाते थे। श्रीरामको छोड़कर वापस गाँव जानेसे ग्रामवासियोंको भारी दुःख और पछतावा होता था। उनकी आँखोंमें जल भर आता था। श्रीरामके थोड़े समयके सहवाससे ही गाँवके लोग प्रेमवश हो जाते थे। श्रीरामको देखकर गाँवमें ऐसा ही प्रेमपूर्ण और आनन्ददायी दृश्य हो जाता था। प्रेमकी मूर्ति श्रीराम सुन्दर ग्रामों और वनोंमें बसने-वाली प्रजासे समान भावसे मिलते-जुलते थे और सबोंको अपनी मधुर वाणीसे सन्तुष्ट करते थे। चित्रकूटमें कोल, किरात, भील सभी सदा उनकी सेवामें लगे रहते थे। उन्होंने केवटपर

(शेष पृष्ठ ६३ पर)

कार्तिक मासके व्रत-त्यौहार



कार्तिक, माघ और वैशाख मास बड़े पवित्र माने गये हैं। इसमें प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान और दान आदि करनेकी बड़ी महिमा गायी गयो है। मदनपारिजातके अनुसार जो पूरे कार्तिक मासमें प्रतिदिन प्रातः स्नान करके मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयमपूर्वक रहते हुए मन्त्र या भगवन्नामका जप करता तथा एक समय हविष्यान्न भोजन करके रहता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। जौ, गेहूँ, मूंग तथा दूध-दही और घी आदि हविष्यान्न समझे जाते हैं। यह मासव्रत आश्विन पूर्णिमासे आरम्भ करके ३१वें दिन कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको समाप्त करना चाहिए। कार्तिक स्नानके लिए वावड़ी, सरोवर, बड़े तालाव तथा नदियाँ अच्छी होती हैं। गाँव-घरकी अपेक्षा तीर्थ-स्नान (काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, पुष्कर आदि) उत्तम माने गये हैं। स्नानके समय हाथमें कुशा अवश्य रक्खें क्योंकि बिना कुशके स्नान, बिना संकल्प-जलके दान और बिना संख्याके जप निष्फल होता है। इसमें तुलसीके समीप, पीपल वृक्षके नीचे, देव-मन्दिरमें तथा आकाशमें दीप जलानेका बड़ा माहात्म्य है।

कृष्णपक्षके व्रत-त्यौहार—चतुर्थी तिथिको करक चतुर्थी या करवा चौथका व्रत किया जाता है। इसका विधान वामनपुराणमें वर्णित है। इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थी गृहीत होती हैं। यदि दो दिन चन्द्रोदय व्यापिनी तिथि मिले या दोनों ही दिन ऐसी तिथि न मिले, तब प्रथम दिनवाली चतुर्थी ही ग्राह्य है अर्थात् पूर्वतिथिसे विद्ध चतुर्थी ही इस व्रतमें प्रशस्त है। इसमें उमा-महेश्वर, स्वामी कार्तिकेय तथा चन्द्रमाके पूजनका माहात्म्य है। यह व्रत सौभाग्यवती स्त्रियाँ सौभाग्य-वृद्धिके लिए किया करती हैं। इसी तिथिको दशरथ-पूजन भी होता है।

दम्पत्यष्टमी—कृष्णपक्षकी चन्द्रोदयव्यापिनी अष्टमीको यह व्रत करनेका विधान है। यह परविद्धा प्रशस्त है। इसमें पुत्रकी इच्छा रखने वाले दम्पती कुशमय शिवपार्वतीकी पूजा करके ब्राह्मणका भी पूजन करते हैं और दक्षिणासहित शिव-पार्वतीको पूजोपहारसहित ब्राह्मणको अर्पित कर देते हैं।

कृष्णपक्षीया एकादशी—इसका विशेष विधान पद्मपुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराणमें मिलता है। इसको 'रमा' एकादशी कहते हैं। एकादशी व्रतकी शास्त्रमें बड़ी महिमा गायी गयी है।

गोवत्सद्वादशी—(भविष्योत्तरपुराण) यह व्रत कार्तिक मासके कृष्णपक्षकी द्वादशी तिथिको किया जाता है। इसमें प्रदोषकालव्यापिनी तिथि गृहीत है। यदि दो दिन तिथि पड़ती हो तो पहले ही दिन की तिथिमें व्रत रखना चाहिए। कहा भी है—'वत्सपूजा

वटश्चैव कर्त्तयो प्रथमेऽहनि।' इस व्रतमें सायंकालको गायें चरकर जब वापस आवें तो समान रंगवाली गाय और बछड़ेका पूजन करे। व्रतके दिन भोजनमें गायके दूध, दही, घी और कड़वे तेलकी भुजिया पकौड़ीका उपयोग वर्जित है।

यमदीपदान—कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको सायंकालके समय किसी पात्रमें मिट्टीके दीपक रखकर उन्हें तिलके तैलसे पूर्ण करे। उसमें नवीन रूईकी बत्ती रक्खे। फिर उन्हें जलाकर गन्धादिसे पूजन करके फिर घरसे बाहर द्वारवर्ती सहनमें दक्षिण ओर मुँह करके **'यमराजाय नमः'** बोलकर वे दीपक उनके प्रीतिके लिए अर्पित करे। यह त्रयोदशी प्रदोप-व्यापिनी शुभ होती है। (स्कन्दपुराण)।

धनत्रयोदशी—(धनतेरस) उपर्युक्त त्रयोदशीको ही सायंकाल तैलपूर्ण दीपक जलाकर गंधादिसे उसका पूजन करके अपने घरके द्वार-देश या अनाजकी डेहरीपर रक्खे। यह दीपक रातभर जलता रहे, इस बातकी ओर ध्यान रक्खे।

गोत्रिरात्रव्रत—यह व्रत कार्तिक मासके कृष्णपक्षकी त्रयोदशीसे लेकर अमावास्या तक किया जाता है। इसका विधान स्कन्दपुराणमें है। इसमें उदयकालव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो तो पहले ही दिन व्रत करे। इस व्रतके निमित्त गोशालामें गौओंके आने-जानेके मार्गमें आठ हाथ लंबी और चार हाथ चौड़ी वेदी बनाकर उसपर सर्वतोभद्रमण्डल अंकित करे। उसके ऊपर छत्राकार वृक्ष बनाकर उसके नीचे मध्यभागमें सुवर्णादिमयी मूर्तियोंपर भगवान् गोवर्धनकी, उनके वामभागमें रुक्मिणी, मित्रविन्दा, शैब्या और जाम्बवतीकी तथा दक्षिणभागमें सत्यभामा, लक्ष्मणा और सुदेवा और नाग्नजितीकी पूजा करे। श्रीकृष्णके पृष्ठभागमें बलभद्र, यशोदाका और संमुख सुरभी, सुनन्दा, सुभद्रा और कामधेनुकी पूजा करे। इन्हें अर्घ्य दे। गो-ग्रास अर्पित करे। बाँसके पात्रमें मिठाई भरकर सौभाग्यवती स्त्रियोंको दे। इस प्रकार तीन दिन व्रत करके चौथे दिन प्रातः स्नानादि करके गायत्री मन्त्रद्वारा तिलोंकी १०८ आहुति देकर व्रतका विसर्जन करे। इस व्रतके करनेसे सुख-सम्पत्ति तथा पुत्रका लाभ होता है।

हनुमज्जयन्ती—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको निशीथकालमें हनुमान्‌जीका अञ्जना देवीके गर्भसे प्रादुर्भाव हुआ था। अतः हनुमान्‌जीके उपासकोंको उस दिन व्रत करके हनुमज्जयन्तीका महोत्सव मनाना चाहिए। उस दिन षोडशोपचार पूजन, लड्डूका नैवेद्य अर्पण करके सिन्दूर-मिला तैल हनुमान्‌जीके श्रीविग्रहमें लगाना चाहिए। पुल्लिङ्ग नामवाले फूल चढ़ावें, फल भेंट करें तथा वाल्मीकि रामायणके सुन्दरकाण्डका पाठ सुनावें। रात्रिके समय घृतपूर्ण दीपक जलाकर दीपावली भेंट करें।

दीपदान—इसी दिन प्रदोष कालमें चौदह दीपोंकी माला जलाकर यमके लिए दान करना चाहिए।

नरकचतुर्दशी—(लिङ्गपुराण) इस दिन सायंकाल चार बत्तियोंका दीपक जलाकर पूर्वाभिमुख हो नरक-निवासियोंकी प्रीतिके लिए अर्पित करना चाहिए। इसी रातमें या दिनमें भी शरीरमें तेल लगानेकी परिपाटी है।

कार्तिकी अमावास्या—इस दिन घर-द्वार साफ-सुथरा करके स्नानादिके पश्चात् देवता-पितर आदिके लिए पूजनपूर्वक श्राद्ध-तर्पण करे। शामको घर-घर तथा देवालयोंमें दीप जलने चाहिए। रातमें महालक्ष्मीजीका गणेशसहित पूजन करे और चार पहर रात शेष रहे तो सूप बजाकर घरकी अलक्ष्मी (दरिद्रता) को खदेड़े—बाहर निकाले। यह काम प्रायः स्त्रियाँ करती हैं।

शुक्लपक्षके व्रत त्यौहार

गोवर्धन-पूजन—दीपावलीके दूसरे दिन प्रभातके समय मकानके द्वार-देशमें गायके गोबरका गोवर्धन बनावे। उसका पूजन करे, फिर वहीं गौओंको विभूषित करके उनका पूजन करे तथा रात्रिमें गौओंसे गोवर्धनका उपमर्दन करावे।

अन्नकूट—कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको अनेक प्रकारके पदार्थ बनाकर छप्पन भोग तैयार करके भगवान्का भोग लगाना चाहिए। अन्नका पर्वत—भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंकी राशि उस दिन भगवान्को अर्पित की जाती है, इसलिए इस उत्सवका नाम अन्नकूट हुआ है।

यमद्वितीया—कार्तिक शुक्ला द्वितीयाको यमका पूजन होता है, इसलिए इसका नाम यमद्वितीया है। यमुनाजीने इस दिन अपने भाई यमका पूजन आरम्भ किया, इससे यह यम-द्वितीयाके साथ भ्रातृद्वितीया (भइया दूज) भी कहलाती है। इस तिथिको हर भाई अपनी बहनके घर जाकर उसका सत्कार करे और उसका दिया हुआ भोजन ग्रहण करे तो वह सुखी रहता है। यह द्वितीया मध्याह्नव्यापिनी लेनी चाहिए। कुछ लोग इसे पूर्वविद्धा हो तो ग्राह्य मानते हैं। स्कन्दपुराणके अनुसार अपराह्नव्यापिनी तिथि अधिक प्रशस्त है।

गोपाष्टमी—कार्तिक शुक्ला अष्टमीको प्रातःकाल गौओंको स्नान कराकर अलंकृत करके गन्ध-पुष्पादिसे उनका पूजन करना चाहिए। उन्हें अच्छा ग्रास देना चाहिए। उन गौओंकी सेवामें रहनेवाले गोपोंका भी भोजन-वस्त्रादिसे सत्कार करे। गौओंकी परिक्रमा करके चरने जानेवाली गौओंके साथ कुछ दूर तक जाना चाहिए। सायंकालमें भी उनका पूजन करना चाहिए। इससे सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

अक्षयनवमी—कार्तिक शुक्ला नवमीको अक्षयनवमी कहते हैं यह तिथि पूर्वाह्न-व्यापिनी ली जाती है। दो दिन हो तो पूर्वविद्धा लेनी चाहिए। इस दिन स्नान, व्रत, पूजन, तर्पण करके अन्नादिका दान करनेसे अक्षय पुण्यकी प्राप्ति होती है। इस दिन आँवलेके वृक्षका पूजन और उनके नीचे ब्राह्मण-भोजन कराने तथा स्वयं भी भोजन करनेसे महान् पुण्य माना गया है। इस तिथिको कूष्माण्ड-दानकी विधि है। इसी दिन अयोध्याजीकी परिक्रमा की जाती है तथा तुलसी-विवाह भी किया जाता है।

हरिबोधिनी एकादशी—इस दिन चार मास तक शयन करनेके बाद शेषशायी भगवान् नारायण जागते हैं, इसलिए इसको हरिबोधिनी या प्रबोधिनी कहते हैं। दिनभर व्रत रहकर रातको स्तोत्रपाठ आदि करके भगवान्को जगावे। शंख-वादन और कीर्तन करे। जगे हुए भगवान्का विधिवत् पूजन करे। प्रसाद ले। शिविकापर भगवान्की सवारी भी निकालनी चाहिए।

भीष्मपञ्चक : यह व्रत प्रबोधिनी एकादशीसे आरम्भ करके पूर्णिमा तक चलता है। इसमें ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक मनमें सात्त्विक भावना रखते हुए वेदीपर लक्ष्मीनारायणकी मूर्ति स्थापित करके प्रतिदिन विविध उपचारोंसे उनका पूजन किया जाता है। सूर्योदयसे पूर्व स्नान आवश्यक है। काशीके लोग पञ्चगंगाघाटपर स्नान करके वेनीमाधवका पूजन करते हैं। दिनभर व्रत रहकर रातमें भजन-पूजन-कीर्तन करके भगवान्का प्रसाद लिया जाता है। इसमें पहले दिन कमल-पुष्पसे भगवान्के हृदयका, दूसरे दिन विल्वपत्रसे कटिप्रदेशका तीसरे दिन केवड़ेके पुष्पसे घुटनोंका, चौथे दिन चमेलीके फूलसे चरणोंका और पाँचवें दिन तुलसी-मंजरीसे भगवान्के सम्पूर्ण अङ्गोंका पूजन करना चाहिए। व्रतके अन्तमें ब्राह्मण पति-पत्नीकी पूजा करके उन्हें भोजन कराकर स्वयं भी पारणा करनी चाहिए।

वैकुण्ठचतुर्दशी : इस दिन मणिकर्णिका-तीर्थमें प्रातः स्नान करके अन्नपूर्णा—विश्वनाथका पूजन करनेसे वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है (सनत्कुमार-संहिता) इस दिन पञ्चगव्य लेनेसे **ब्रह्मकूर्च व्रत** सम्पन्न होता है और उससे आरोग्यकी वृद्धि होती है।

कार्तिकी पूर्णिमा : इसकी महत्ता सर्वविदित है। यह तिथि स्नान-दानादिके लिए महान् पर्व है। इस अवसरपर काशी, अयोध्या, मथुरा, पुष्कर तथा गंगादि तीर्थोंमें स्नान-दानसे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है।

(पृष्ठ ५९ का शेषांश)

अनुपम कृपा की, भीलोंके राजा गुहको अपना सखा बनाया, बनोंमें बसनेवाले मुनियों और सन्तोंके साथ सहवासकर उन्हें सन्तोष और शान्ति दी, वानरोंके राजासे मित्रता की और वानरोंकी संगठित सेना सजवाकर असुरोंका अन्त किया। इस प्रकार जंगलोंमें १४ वर्ष बिताकर आततायी, छली, कपटी, दुष्ट दैत्योंको मारकर श्रीरामने दीन वनवासी प्रजाकी सब प्रकारसे रक्षा की। महाबली और अभिमानी रावण और उसके दुष्ट साथियोंको समाप्त कर अयोध्यापुरीमें वापस आकर आदर्श रामराज्यकी स्थापना की। राजगद्दीपर बैठनेपर भी महाराज रामचन्द्रने प्रजाकी इच्छा और भावनाको सदा पहला स्थान देकर माना। उनके राज्यमें पुरजनोंकी सभा थीं जिससे वे सदा परामर्श लिया करते थे। एक साधारण धोबीके कहनेमात्रपर उन्होंने अपनी जीवनसंगनी जानकीको त्याग दिया। प्रजाके कष्टकी कानमें भनक पड़ते ही वे अधीर हो जाते थे और उसे तुरन्त दूर करते थे। लवणासुरके अत्याचारोंसे दुखी व्रज-प्रदेशकी प्रजाकी पुकारपर श्रीरामने अपने छोटे भाई शत्रुघ्नको भेजकर उसका वध कराया। वहाँकी प्रजाको निर्भय करके मथुरापुरी बसायी। इस प्रकार प्रजाको प्रसन्न रखनेवाले रामका समस्त जीवन प्रजाको निर्भय और सुखी रखनेमें ही बीता। उन्हीं रामकी और उनके रामराज्यकी यादमें—प्रजाके सदाचार, सद्व्यवहार, सुख-समृद्धि और शान्तिके युगकी यादमें आर्यवीर श्रीरामके समयसे आज तक इस देशमें उनकी स्मृतियोंको तथा उनके सद्गुणोंको जीवित रखनेके लिए लोग रामलीलाएँ करते हैं।



श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके मन्दिरमें भगवान्‌के बालविग्रहकी आरतीके समय
भावविभोर दर्शनार्थियोंका समूह

श्रीकृष्ण-सन्देश, नवम्बर, १९६९ पंजीयत सं० एल-८२७

मथुराकी महत्ता

नित नित नूतन बिलास रस रास होत,
हास होत बानीमें मिठास होत मथुरामें।
आयें इत अनायास पाप कौ बिनास होत,
उर हरि प्रेंम कौ बिकास होत मथुरामें।।
लोकन सों न्यारी प्यारी जन्म भुवि केसबकी,
नित्य व्रजचंद कौ निवास होत मथुरामें।
दान कियें स्वर्ग पास होत हिय आस पूरी,
स्नान कियें जम कौ न त्रास होत मथुरामें।।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा के लिए देवधर शर्मा द्वारा
आनन्दकानन प्रेस, दुण्ढिराज, वाराणसी–१
में मुद्रित एवं प्रकाशित।